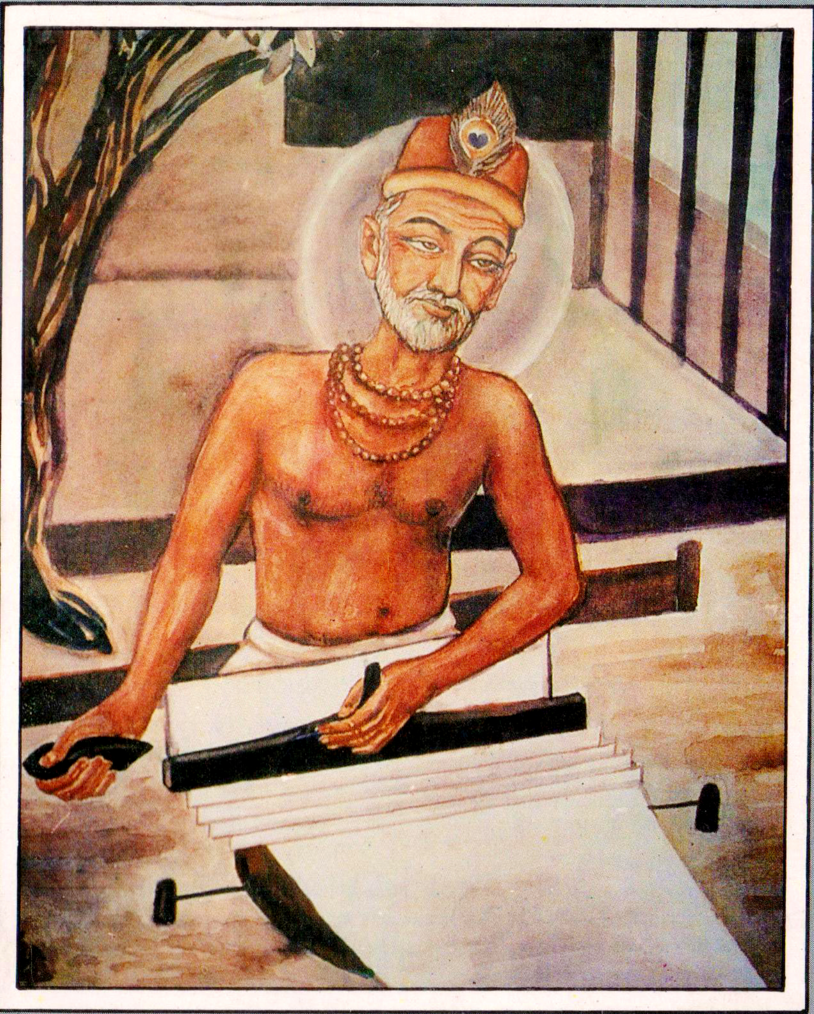
# कबीर



प्रकाशन विभाग

# कबीर

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

पंचम संस्करण : जून 1978 (ज्येष्ठ 1900)
षष्ठम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : 2000 (शक 1921)

ISBN : 81-230-0787-6



मूल्य : 75.00 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली–110001 द्वारा प्रकाशित

**विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग**

- पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली– 110001
- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली–110001
- प्रकाशन विभाग हॉल नं. 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली–110054
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, मुंबई– 400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता– 700069
- राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई– 600090
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम–695001
- प्रथम तल, एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरा मंगला, बंगलौर–560034
- 27/6, राम मोहन राय मार्ग, लखनऊ–226001
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डंस, हैदराबाद–500004

**विक्रय काउंटर ● प्रकाशन विभाग**

- पत्र सूचना कार्यालय, 80, मालवीय नगर, भोपाल– 462003 (म. प्र)
- पत्र सूचना कार्यालय, सी.जी.ओ. काम्प्लैक्स, 'ए' विंग, ए. बी. रोड, इंदौर (म.प्र)
- बी-7, भवानी सिंह मार्ग, जयपुर (राजस्थान)

---

मुद्रक : आकाशदीप प्रिन्टर्स, 20, अन्सारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली–2.

साईं बिन दरद करेजै होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूं दुख रोय।।
आधी रतियां पिछले पहरवा, सांई बिन तरस रहो सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, सांई मिलै सुख होय।।

*जौ कलि मांझ कबीर न होते।*

*तौ ले-वेद अरु कलिजुग मिलि, करि भगति रसातल देते।।*

*अगम निगम की कहि कहि पांडे, फल भागौत लगाया।*

*राजस तामस सातिक कथि कथि इनसों जगत सुलाया।।*

*भगति प्रताप राष्यबे कारन, जिन जन आप पठाया।*

*नाम कबीर सांच परकास्या, तहां पीपे कछु पाया।।*

पीपाजी

(सरब गोटिका, संख्या ४४८)

दुलहंनी गाबहु मंगलचार।
हम घरि आए परम पुरुष भरतार।।
तन रत करि मैं मन रत करिहौं पंचतत्व तब राती।
गुरुदेव मेरे पाहुन आये, मैं जोबन में माती।।
सरीर सरोबर बेदी करिहौं ब्रह्मा वेद उचारा।
गुरुदेव संग भांवरि लैहों, धन धन भाग हमारा।
सुर तेतीसूं कौतिग आए, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हस ब्याहि चले है पुरिष एक अबिनासी।।

जल बिच कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समानां, यहु तत कथौ गियानीं।।

✶ ✶ ✶

आदै गगनां अंतें गगनां, मधे गगना माई
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई।।

✶ ✶ ✶

मेरा मुझमैं किछु नहीं, जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै मेरा।।

✶ ✶ ✶

जब गुन कौं गाहक मिलै, तब गुन लाख बिकाइ।
जब गुन कौं गाहक नहीं, तब कौड़ी बदलै जाइ।।

✶ ✶ ✶

कबीर कहा गरिबियौ, काल गहे कर केस।
ना जाणौं कहां मारसी, कै घर कै परदेस।।

# प्राक्कथन

भारतीय चिंतन परंपरा में कबीर एक प्रकाश स्तंभ के समान हैं। उनका आविर्भाव उत्तर भारत के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना सिद्ध हुई। उन्होंने मूल चिंतनधारा को मोड़ दिया। प्रचलित रूढ़िवादिता और कर्मकांड को पूर्णतः त्यागते हुए उन्होंने नए सिरे से चिंतन किया, अनुभव पर आधारित नई स्थापनाएं दीं।

काव्य और धर्म से भी कहीं पृथक था कबीर का सामाजिक व्यक्तित्व। वे समाज से दूर रहने वाले निरे एकांतवासी साधक नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि वह जो कुछ हैं, समाज से बने हैं। वस्तुतः उनकी वैयक्तिक साधना का भी सामाजिक पक्ष था। तत्कालीन समाज के व्यवहार एवं विचारधारा पर उन्हें मानसिक कष्ट था। कहीं सामान्य ढंग से, तो कहीं आक्रोश के साथ इसी लक्ष्य की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में हुई।

*ना हिंदू ना मुसलमान* की घोषणा करने वाले संत कबीर वह प्रथम संत कवि थे जिन्होंने धर्मनिरपेक्ष समाज की कल्पना की। छह शताब्दियों के बाद भी आज कबीर के वचन चिरनवीन हैं; आज के सम-सामयिक संदर्भों में सटीक हैं। सुलतान सिकंदर लोदी के समय में कबीर मौजूद थे। आक्रांता शासक वर्ग कितने जोर-जुल्म ढाता था, यह उन्होंने देखा था। उधर सवर्ण हिंदुओं का अपनी ही जाति वालों के साथ दुर्व्यवहार भी उनकी नजर में था। हिंदू-मुस्लिम दोनों संस्कृतियों की टकराहट भी उनको प्रकंपित कर रही थी। दोनों की अपनी-अपनी मान्यताएं, पाखंड और अंधविश्वास थे। इस सबके

ऊपर था अपने-अपने अहं का थोथा गर्व।

यही उपयुक्त समय था जब कोई सहिष्णुता और धर्म-निरपेक्षता का मार्ग दिखाता। कठिन कार्य था। इसके कर्ता का स्वागत-अभिनंदन नहीं होना था। भारतीय इतिहास के उस कठिन काल में यह भार वहन किया महात्मा कबीर ने। उस समय राम-रहीम के नाम पर कितना मतभेद था। किसी के लिए राम, तो किसी के लिए रहमान सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। काजी-मुल्ला और पंडित-पांडे अपने धर्म के सामने दूसरे धर्म को सहन नहीं कर पाते थे। एक में विजयी और शासक होने का गुमान था तो दूसरी ओर पराजयजन्य विवशता और अत्याचारों के विरोध में डटे रहने का हठ था। कोई किसी के सामने झुकने को राजी न था। दोनों की अपनी-अपनी धार्मिक परंपराएं थीं। मानो इसी रूढ़िवादिता को फटकारने का काम कबीर को करना था। पहले उन्होंने काजी को लताड़ा— तुम किस कुरान की इतनी प्रशंसा करते हो ? जीवनभर उसे पढ़कर भी कुछ नहीं समझ पाए— *पढ़त-पढ़त कितने दिन बीते, गति एकहि नहिं जाने।* स्वयं तो खतना करा कर मुसलमान बन जाते हो, मगर अपनी औरत को मुसलमान कैसे बनाओगे ? पत्नी हिंदू और पति मुसलमान— *हौं तो तुरक किया करि सुन्नति औरत सौं का कहिए ?* अरे, वह तो हिंदू ही बनी रहेगी। अब भला, यह कैसा धर्म है तुम्हारा जो परिवार को दो जातियों में बांट देता है— *अरध शरीरी नार न छूटे, आधा हिंदू रहिए।* अरे कुछ समझो, जाति के नाम पर अलग वर्ग बनाना, अलग ईश्वर की कल्पना कौन-सी अक्लमंदी है ?

पंडित और मुल्ला दोनों ही हैरान थे। इस फक्कड़ अलमस्त फकीर का क्या किया जाए। यह किसी को नहीं बख्शता। वह ऐसी बातें इतने तार्किक ढंग से प्रस्तुत करते थे कि पंडित और मुल्ला दोनों ही हतप्रभ रह जाते थे। *तू पंडित मैं काशी का जुलाहा मेरे ज्ञान को भी तो तनिक चीन्हो।* राम के लिए व्यर्थ पाखंड करते हो। अरे तुम ब्राह्मण लोग बारह राशि की बातें करते हो, मगर क्या उनसे तुम मृत्यु पर विजय पा सके हो ? और फिर छूत-अछूत की बात क्यों करते हो ? यह संसार ही छूत से पैदा हुआ है। *छोतहिं ते उपजा सब संसारा।* — बिना छूत

या स्पर्श के, या बिना दो वस्तुओं, प्राणियों के संयोग के कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं उत्पन्न हो सकता। ऐसा तो नहीं है कि मेरे शरीर में रक्त हो और तुम्हारा शरीर दूध हो। जब दोनों में एक जैसा रक्त प्रवाहित हो रहा है तो फिर तुम कैसे पांडे, हम कैसे सूद ? वस्तुतः तुम लोगों ने ही छूत का आडंबर खड़ा किया है। अगर तुम्हें छूत से बचना था तो गर्भ में क्यों आए।

कबीर ने धार्मिक आडंबर पर भी तीखा प्रहार किया। झूठे वाद, संप्रदाय और शब्दाडंबर की भर्त्सना की—*पंडित वाद वदंते झूठा*। अगर राम कहने से दुनिया की मुक्ति हो जाती, तो खांड़ करने से मुंह मीठा क्यों नहीं होता ? क्या पावक कहने से पांव जल सकता है, जल कहने से प्यास बुझ सकती है ? भोजन कहने से पेट भर सकता है ?

हिंदू मंदिर में जाकर मूर्ति की आराधना-पूजा करते थे, माला जपते थे। उनको भी कबीर ने आड़े हाथ लिया। माला पहनने, तिलक लगाने, तीर्थ-व्रत करने से कहीं राम मिलता है— *मन में मैल, तीर्थ न्हावै, तिनि बैकुंठ न ज़ाना*। लोग राम को खिलौना समझते हैं। सारा संसार पागल है जो तीर्थ स्नान करके, वेद, पुराण, स्मृतियों का पाठ करके ईश्वर को पाना चाहता है। यदि तीर्थ स्नान से मुक्ति मिलती तो जल की सारी मछलियां क्यों नहीं मुक्त हो जातीं ? *मीना नित ही न्हावै*। मछलियां तो रोज नहाती हैं। काशी गंगा स्नान से मुक्ति मिलती होती तो आज तक सभी मनुष्य मुक्त हो गए होते। फिर विविध योनियों में जन्म लेकर क्यों दुख पा रहे हैं ?

इन सारे पाखंड का खंडन कबीर की वाणी में हुआ। उन्होंने हिंदुओं की मूर्ति पूजा, मुसलमानों की नमाज (*मुल्ला कहां पुकारे दूर, क्या बहरा हुआ खुदाय)* सभी प्रकार के व्रत, उपवास-रोजा, तीर्थयात्रा-हज, माला-तस्बीह, जनेऊ-सुन्नति, गायत्री-कलमा, कैलाश-काबा, वेद-कुरान, स्वर्ग-नरक, बहिश्त-दोजख सभी की निस्सारता पर प्रहार किया। पाखंडों की संकुचित सीमाओं में मनुष्य का परस्पर व्यवहार ही ठीक न हो तो स्वर्ग, बहिश्त की क्या आवश्यकता ? यह तो सब ऊपरी ढकोसले हैं। षड्कर्मों से तो न सुख मिल पाएगा, न मोक्ष। वास्तविक सुख तो पड़ोस के व्यवहार में है। मानव की

सेवा ही वास्तविक ईश्वरीय सेवा है। इन ऊपरी ढकोसलों से लोगों में भेद और अहंकार ही पैदा होता है और कुछ नहीं। सबको समानता के धरातल पर लाया जाए, धर्म के नाम पर विद्वेष और कलह खत्म हो, यही कबीर चाहते थे– *कहे कबीरा दास फकीरा अपनी राह चलि भाई, हिंदू तुरक का कहता एकै, या गति लखी न जाई।*

दोनों धर्मों के विरोधी मतों पर कबीर ने सर्वप्रथम प्रहार किया। उन्होंने दोनों को एक साथ मूर्ख बताया मगर जिस शब्द का प्रयोग किया वह था भोंदू। चोट हुई, मगर अपनत्व भरी कोमलता लिए हुए– *कहै कबीर चेत रे भोंदू, बोलनहारा तुरक न हिंदू।* अपने को हिंदू या मुसलमान कहने वाले व्यक्ति भोंदू के अतिरिक्त कुछ नहीं। वास्तव में दोनों एक ही हैं। मनुष्य मात्र ही हैं । भेद का पर्दा क्यों डाला जाए। राम-रहीम का नाम लेकर झगड़ा करना व्यर्थ है। *हिंदू मूए राम कहि मुसलमान खुदाय, कहैं कबीर सो जीवता दुहूं में कदै न जाय।* कबीर किसी एक धर्म या जाति के नहीं थे। उनका धर्म मानव धर्म था जो केवल अनूभूति पर आधारित था। देखादेखी अपनाए गए धर्म को वह नहीं मानते थे। समाज में प्रचलित मिथ्याडंबरों को निस्सार समझते थे। यही कारण था कि सेवा, परोपकार, दान-पुण्य को औरों का कर्तव्य निर्धारित करने वाले और स्वयं उससे दूर रहने वाले पंडित-पांडे कबीर के मर्मभेदी प्रहारों के पात्र बने। *ब्राह्मण गुरु है जगत का साधू का गुरु नाहिं*– पंडित भले ही जगत के गुरु हों, मगर वे साधु के गुरु नहीं हैं क्योंकि वे चारों वेदों में उलझ कर रह जाते हैं। उनका ज्ञान व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। उनमें पवित्रता का ढोंग ही शेष है। वैसे वे सामान्य दैनिक व्यवहार से भी उतरे हुए हैं। दूसरों को उपदेश देकर अपनी जीविका चलाना ही उनका धंधा है। लालच का दांव खेलते हुए वे कर्मकांड के प्रचार में लगे हैं, जिनका आधार ही पत्थर की पूजा है। दोनों ही पत्थर ही नाव में चढ़कर बीच नदी में डूबेंगे– *चढ़ि पाथर की नाव*। सामाजिक प्रगति का कार्य वे नहीं करेंगे, अनमोल जीवन यों ही खोएंगे। दूसरों की खांड़, खिचड़ी, पेड़ा और पूड़ी छकते हुए कर्तव्यहीन बने रहेंगे। पाखंड का जाल बिछाकर पत्थर के

शालिग्राम की उपासना का प्रचार करेंगे। कबीर ने कहा कि पूजा ही करनी है तो मनुष्य की सेवा करो। मनुष्य ही देव है। हरेक आत्मा ही शालिग्राम है। *जेती देखौ आतमा तेता सालिगराम।* यह तुम्हारा कैसा आचरण है कि जीवित पिता को डंडे से मारते हो, मरने पर गंगाजल अर्पित करते हो ? आखिर तुम्हारे श्राद्ध, पिंडदान का क्या मतलब है ? पितृपक्ष में कौए को खिलाने से क्या लाभ ? भला, वह खाद्य किसी के मृत पिता को मिलता होगा ? *कहि कबीर मोहि अचरज आवै, कौआ खाइ पितर क्यूं पावै ?*

कबीर ने इस अक्खड़पन और साफगोई से हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों के पाखंड पर एक साथ चोट होती थी। छह शताब्दी पूर्व उस महाकवि का स्वर जितना मुखर था उतना ही आज भी मुखर है, उतना ही जीवंत और सामयिक है। यदि हम महाकवि कबीर को अमर सूक्तियों के गायक कहें, युग निर्माता कहें तो निस्संदेह सत्य होगा। किंतु धर्मनिरपेक्ष समाज के निर्माण में उनका योगदान ऐतिहासिक महत्व की बात है। आज के संदर्भ में तो वह और भी अधिक सामयिक है।

कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से हिंदी के पांच श्रेष्ठ समालोचकों-सर्वश्री शिवदानसिंह चौहान, डॉ. सत्येंद्र, डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त, ललिताप्रसाद सुकुल और डॉ. गुलाबराय की रेडियो वार्ताओं को पहले *आकाशवाणी पुस्तक-माला* के अंतर्गत छापा गया था। संशोधित संस्करण में श्री विवेक दास ने अपने लेख 'कबीर के स्मृति चिन्ह' को नए सिरे से लिखा है ताकि इसमें अद्यतन जानकारियां समेटी जा सकें। पुस्तक में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी और श्री प्रकाश सत्येन नटराजन के लेख भी शामिल कर लिए गए हैं जो प्रकाशन विभाग की पत्रिका *आजकल* के कबीर केंद्रित अंक में छपे थे। आशा है, इस प्रयास से कबीर के दर्शन और साहित्य में रुचि रखने वाले सभी पाठक लाभान्वित होंगे।

**संपादक**

# विषय सूची

## परिशिष्ट

# जीवन परिचय

## *डॉ. सत्येंद्र*

कबीर के जीवन पर पर्याप्त विचार हुआ है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अंतिम निर्णय हो गया है। कबीर उन महापुरुषों की परंपरा में हैं जो अपने संबंध में कोई परिचय नहीं देना चाहते। फिर भी कवि की अभिव्यक्ति अपने व्यक्तित्व से अछूती नहीं रह सकती। उनकी रचनाओं में जहां-तहां कुछ-न-कुछ निजी बातें झलक ही जाती हैं। कबीर की रचनाओं में भी हमें उनके जीवन के संबंध में आक्षरिक साखी के रूप में कुछ सामग्री मिल जाती है। ऐसे उल्लेख यथार्थतः प्रमाण, उदाहरण अथवा स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने की शैली में मिलते हैं। इनके आधार पर कबीर के जीवन का चित्र अंकित करते समय सबसे पहली बात तो यह विदित होती है कि कबीर जुलाहा थे। उन्होंने एक दो स्थलों पर नहीं, वरन कई स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया है कि वह जुलाहा हैं। उन्होंने लिखा है :

*तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा चीन्हिन मोर गियाना*

या

*जात जुलाहा मति कौ धीरे, हरिषि हरिषि गुण रमै कबीर*

या

*जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी*

या

*तनना बुनना तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया सरीर*

इस प्रकार, कबीर की साखियों से इनका 'जुलाहा' होना सिद्ध होता है। कबीर ने कहीं-कहीं अपने लिए 'कोरी' शब्द का भी उपयोग किया है :

*हरि कौ नाम अभै पद दाता, कहे कबीरा कोरी*

अथवा

*कोरी को काहू मरम न जाना, सब जग आन तनायो ताना*

अथवा

*कहत कबीर कारगह तोरी, सूने सून मिलाये कोरी।*

कबीर यदि 'कोरी' होंगे तो हिंदू माने जाएंगे। इस 'कोरी' और 'जुलाहा' की संधि बैठाने के लिए एक कल्पना यह की गई है कि कबीर पहले कोरी हिंदू थे, फिर मुसलमान हुए तो इनका कुटुंब जुलाहा कहलाया, किंतु इस मत को मान्यता नहीं मिली। कबीर के संबंध में उन्हीं के समकालीन संत रैदास ने कहा है :

*जाकैं ईद बकरीद नित गउरे बध करें मानिये सेष सहीद पीरों*

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का जन्म शुद्ध मुसलमान कुल में हुआ था। वह जन्म से मुसलमान थे। इस मत की प्रतिष्ठा करने वाले, कबीर के मत की समीक्षा करते हुए उसमें कुरान से साम्य दिखाते हैं। इनका कहना है कि यह साम्य आकस्मिक नहीं, कबीर के गहरे मुसलमानी संस्कारों और आस्थाओं के कारण है। इधर कबीर की ही साखी में वह स्पष्ट कहते हैं — *मैं न हिंदू हूं और न मुसलमान*। इसके उत्तर में इन्हें मुसलमान मानने वाले कहते हैं कि कबीर जन्म से मुसलमान होते हुए भी 'जिन्दीक' अथवा जिन्द थे। कबीर ने लिखा है :

*कहै कबीर हमारे गोव्यन्द, चौथे पद में जन का ज्यन्द*

यह *ज्यन्द, जिन्द या जिन्दीक* सूफी होते हैं और कहरना के विश्वासी

नहीं होते। अतः कबीर हिंदू तो जन्म से ही नहीं थे, मुसलमान भी वह कट्टर नहीं थे, पर दूसरे शोधकर्ता कहते हैं कि कबीर की वाणियों में नाथपंथी सिद्धांतों का गहरा प्रभाव स्पष्ट है। बिना नाथपंथी सिद्धांतों को समझे यथार्थ में कबीर की वाणियों को समझ सकना भी संभव नहीं– इनके विचार से कबीर जुलाहा-जाति में पैदा हुए थे जो बौद्ध धर्म के ह्रास-काल का अवशेष थी और जिस पर नाथपंथी योगियों का गहरा प्रभाव था। यह जाति कमीन समझी जाती थी। कबीरदास ने लिखा है– *आई हमारे कहा करेगी, हम तों जाति कमीना।* यही कारण है कि कबीर में हठयोग के प्रति इतना विश्वास है और नाथपंथ के सिद्धांतों से इतना साम्य।

इस विवेचना से यह सिद्ध होता है कि कबीर का व्यक्तित्व जटिल था। एक ओर वह मुसलमान धर्म और उसके विश्वास से परिचित होते हुए भी जिन्दीक सूफी थे, उदार दृष्टि वाले थे, दूसरी ओर उन्हें नाथपंथियों तथा योगियों के सिद्धांतों पर भी गहरा विश्वास था और उनके गूढ़ अभिप्राय इनकी वाणी में समाविष्ट हैं, किंतु यह जटिलता केवल यहीं समाप्त नहीं होती। सूफी और नाथपंथी योगी कबीर को 'वैष्णव' कबीर ने आच्छादित कर लिया है। यद्यपि कबीर ने यह बताया है कि :

*ता साहब ने लागौं साथा, दुख सुख मेटि रह्यों अनाथा।*
*जा दसरथ धरि औतरि आवास, ना लंका का राव सतावा।।*

फिर भी उनका राम वैष्णव है जो अपने अनेक पर्यायवाचियों के साथ कबीर की वाणी में पूर्णतः व्याप्त है। कभी-कभी तो वह विष्णु के अवतार में भी आस्था रखते हुए विदित होते हैं :

*तब काढ़ि खडग कोप्यौ रिसाई, तोहि राखनहारो मोहि बनाइ।*
*खम्भा में प्रगट्यो गिलारि, हरनाकस मार्‌यौ नखा विदारि।।*
*महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट कियौ भगती मेव।*
*कहे कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबार्‌यौ अनेक बार।।*

फिर भी ऐसा विश्वास भले अपवादस्वरूप हो, वैष्णव संप्रदाय का जादू तो सिद्ध करना ही है। यों भी कबीर को वैष्णवों से प्रेम है और शाक्तों से घृणा :

*साकत मरै संत जन जीवै।*
*भरि भरि राम रसायन पीवै।।*

तथा

*बैस्नो की छतरी भली।*
*ना साकत बड़गांव।।*

अथवा

*साकत ब्राह्मण मति मिलै।*
*बैस्नो मिलै चंडाल।।*

तो यह विदित होता है कि उक्त मुसलमानी धर्म में परिणति प्राप्त नाथपंथी जुलाहा जोगीकुल में जन्म लेकर कबीरदास 'वैष्णव' हुए। 'वैष्णव' होने की बात किंवदंती से ही नहीं, कबीर के प्रमाण से सिद्ध भी है। कबीर ने बताया है :

*कासी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताये*

कबीरदास रामानंद के शिष्य हुए और राम का नाम जपने लगे। कबीरदास के इस धर्माचरण से घर में मां के साथ क्लेश खड़ा हो गया प्रतीत होता है, और उसका उल्लेख कबीर अपनी भक्ति की दृढ़ता के प्रभाव से करते हैं। गुरु ग्रंथ-साहिब में आए कबीर के एक पद में लिखा है :

*मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।*
*ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।।*
*तनना बुनना सब तजिओ कबीर।*
*हरि का नाम लिख लिओ सरीर।।*

* * *

*जब लग भरों नली का बेह।*
*तब लग टूटे राम सनेह।।*
*ठाढ़ी रोवै कबीर की माई।*
*ऐ लरिका क्यूं जीवै खुदाई।।*
*कहे कबीर सुनहु री माई।*
*पूरणंहारा त्रिभुवन राई।।*

कबीर की मां को पुत्र के लक्षणों से यह विदित होता था कि यह भूखों मर जाएगा। एक अन्य स्थान पर और ऐसा ही प्रसंग है :

*निति उठि कोरी भागरि आनै, लीपत जीउ गइयो।*
*ताना बाना कछु ना सूझै, हरि हरि रस लपटिओ।।*
*हमारे कुल कउने राम कहिओ।*
*जबकि माला लई निपूते तब ते सुखू न भइयो।।*

कबीर ताना-बाना छोड़कर राम-नाम जपने लगे थे— उस राम-नाम को जो कबीर के कुल में कभी न जपा गया था। इस जप के समय से ही कबीर के घर में दुख ने डेरा डाला और सुख चला गया। कबीर ने दुख चाहा भी था :

*सुख के माथे सिल परै, नाम हरि का जाय।*
*बलिहारी वा दुख की, पल पल नाम रटाय।।*

कबीर ऐसे दारिद्र्य और दुखपूर्ण परिस्थितियों में रहते हुए भी राम-भक्ति में अटल थे। मां तो इनसे दुखी थी ही ; इनकी स्त्री भी प्रसन्न प्रतीत नहीं होती, क्योंकि एक पद में कबीर ने मां के वचनों को यों उपस्थित किया है :

*मेरी बहुरिया का धनिया नाउ।*
*ले रख्यौ रमजनिया नाउ।।*
*इन मुण्डियन मेरा घर धुंधरावा।*
*बिटवहि राम रमौआ लावा।।*

मां के इस दुख पर कबीर ने यह आश्वासन उसे दिया :

*कहत कबीर सुनहु मेरे भाई।*
*इन मुण्डियन मेरी जानि गंवाई।।*

मां को पुत्र के राम-भक्त हो जाने का ही नहीं, अपनी पुत्र-वधू के रमजनिया हो जाने का भी खेद है। 'रमजनिया' को व्यावहारिक भाषा की 'रामजनी' मानकर प्रियादास की भक्तमाल की टीका में कबीर के वृत्त में आए *बारमुखी लई संग* से संगति भिड़ाने पर कबीर की स्त्री में वेश्यत्व के आरोप की कल्पना भी की जा सकती है, पर कबीर की स्त्री का नाम धनिया लिखा गया है, लेकिन कबीर के पदों में आए 'लोई' संबोधन से प्रचलित किंवदंती को जोड़ देने पर यह विदित होता है कि कबीरदास की स्त्री का नाम लोई ही था। लोई भी कबीर की माता की भांति कबीर से असंतुष्ट थी। कबीर ने लोई की आपत्ति और अपना उत्तर एक पद में दिया है :

*तूटे तागे निखुरी पानि, दुआरा ऊबरि झिलका बहि कान।*
*कूच बिचारे फूए फाल, इहा मुंडिया सिर चढ़िवौ काल।।*
*दुहू मुंडिया से गलो द्रव खोई, आवत जात नाक सर होई।*
*तुरी नारी की छोड़ी बाता, राम नाम वाका मनुराता।।*
*लरकी लरिकन खैबी नाहिं, मुंडिका अनुदिन धायीं जाहि।*
*सुनि अंधली लोई बेपीर, इन्हि मुंडियन भजि सरन कबीर।।*

इस पद में 'लरकी लरकिन' और 'लोई' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। कबीर ने विवाह किया था। उनके संतान भी थी। यह प्रसिद्ध ही है कि कबीर ने अपने पुत्र की संपत्ति-परिग्रह-वृत्ति को देख कर कहा था :

*बूड़ा बंस कबीर का, उपजिओ पूत कमाल।*
*हरिका सुमिरन छांड़िकै, घर लै आया माल।।*

इस विवरण से कबीर के व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू स्पष्ट होता है। एक ओर जहां कबीर आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपलब्धियों में संलग्न थे, वहां दूसरी ओर गृहस्थी के संघर्ष को भी मस्ती के साथ झेल रहे थे। घरेलू व्यवसाय को उन्होंने छोड़ दिया था, पर वह 'हरि चर्चा' के आधिक्य के कारण शिथिल हो गए थे। इससे एक ओर जहां आर्थिक कठिनाइयां बढ़ रही थीं, वहीं दूसरी ओर संतों के समागम तथा उनके सत्कार से भी दारिद्र्य की वृद्धि हो रही थी। घर के बालक भले ही भूखे रहें, पर संतों का सत्कार तो होना ही चाहिए। कबीर की साखियों में अपरिग्रह का प्रबल पोषण किया गया है:

*साधु गांठि न बांधई, पेट समाता लेई।*
*साईं के सम्मुख रहे, जंह मांगे तंह देई।।*

✶ ✶ ✶ ✶

*जो जल बाढ़े नाव में घर में बाढ़ै दाम।*
*दोऊ हाथ उलीचिए, यह सज्जन कौ काम।।*

और यह प्रतीत होता है कि कबीर इसी अपरिग्रह के सिद्धांत के अनुसार अपने साईं पर पूरा भरोसा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते थे, किंतु कबीर को सबसे अधिक दुख तथा वेदना अपने अंत समय में हुई विदित होती है। उनका यह पद द्रष्टव्य है :

*ज्यों जल छोड़ि बाहर भयो मीना, पूरब जनम हौं तप का हीना।*
*अब कहु राम कवन गति मोरी, तजीले बनारस मति भई थोरी।*
*सकल जनम सिवपुरी गंवाया, मरती बार मगहर उठि आया।*
*बहुत वर्ष तय कीया कासी, मरन भया मगहर को बासी*
*कासी मगहर सम बीचारी, ओछी भगति कैसे उतरसि पारी।*
*कहु गुरु भाजि सिव सबको जानै, मुआ कबीर रमत श्री रामै!*

इस पद से यह विदित होता है कि कबीर को काशी बहुत प्रिय थी।

उनका प्रायः समस्त जीवन काशी में ही बीता। अंत समय में बड़े दुख के साथ उन्हें अपनी प्रिय काशी छोड़ कर मगहर जाना पड़ा। मगहर क्यों जाना पड़ा ? इस विषय में कबीर की साखियों से ही दो प्रकार का समाधान प्रस्तुत होता है। एक तो कबीर के वे पद हैं जो कहते हैं कि :

*जो कासी तन तजै कबीरा, तौ राम हि कौन निहोरा।*

तथा

*चरन-बिरद कासी कौ न देहूं कहै कबीर भले नरकहिं जैहूं।*

इन पदों से यह प्रकट होता है कि कबीर ने काशी इसलिए त्यागी कि वह यह सिद्ध करना चाहते थे कि भगवान के भरोसे रहने वाला व्यक्ति (निरंजन में रमने वाला व्यक्ति) काशी से बाहर भी यदि अपने प्राण त्यागेगा तो भी उसे राम का धाम मिलेगा। अथवा यह भाव भी हो सकता है कि राम का भरोसा किया जा सकता है। वह अंत समय में भी राम की भक्ति के आधार को नहीं त्यागना चाहते थे। भक्त कबीर में तो ऐसा अनन्य भाव हो सकता है, पर कबीर तो भक्त के अतिरिक्त बुद्धि-विश्वासी अध्यात्मवादी थे। वह केवल राम का भरोसा सिद्ध करने के लिए ही अपनी प्यारी काशी क्यों छोड़ते ? अतः दूसरा समाधान इस काशीत्याग तथा मगहर-वास के लिए ऐतिहासिक कारण का अनुसंधान करता है। उसके समक्ष कबीर का यह पद आता है :

*कहा अपराध संत हौ कीन्हा, बांधि पोट कुंजरकुं दीन्हा।*
*कुंजर पोट बहु बन्दन करे, अजहूं न सूझै काजी अन्धरे।*
*तीनि बेर पतियारा लीन्हा, मन कठोर अजहू न पतीना।*

इस पद से यह व्यक्त होता है कि किसी काजी ने कबीर के हाथ-पैर बांध कर हाथी के पैर के नीचे डलवा दिया था। हाथी को जब रौंदने के लिए प्रेरित किया गया तो उसने पोटली बने हुए कबीर को प्रणाम किया, पर कुचला नहीं। काजी के तीनों प्रयत्न व्यर्थ गए।

कबीर के संबंध में ही इस अलौकिक घटना का उल्लेख मिला है।

इसमें कबीर के विरुद्ध सिकंदर लोदी की आज्ञा में किए गए दुर्व्यवहार का उल्लेख मिलता है। इसी संकेत के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सिकंदर लोदी के अत्याचारों से पीड़ित होकर कबीर को काशी छोड़नी पड़ी। मगहर एक सुरक्षित स्थान था। वहां कबीर ने शरण ली और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

कबीर के इस जीवन-परिचय से कबीर के महान व्यक्तित्व की झांकी मिलती है। किन-किन परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए कबीर ने सत्य शोध में प्रवृत्ति दिखाई और जिस सत्य को उन्होंने पाया, उसको किस निर्भीकता से उन्होंने डंके की चोट पर सबको सुनाया, इसका कुछ ज्ञान हमें कबीर के शब्दों में ही हो जाता है। कबीर का यह प्रबल व्यक्तित्व उनके अंतराल की व्यग्र सत्य अनुसन्धित्सु जिज्ञासा पर निर्भर करता है। सत्य के स्वरूप का निर्णय करने से पूर्व कबीर धर्म के प्रमुख स्थानों पर गए थे। बुद्ध की भांति वन-वन घूमे थे :

*जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौ उदासी।*

'उदासी' होकर ही नहीं, संभवतः कबीर 'उपासी' होकर भी जहां-तहां गए। इन स्थानों में से कुछ का वर्णन स्वयं कबीर ने किया है :

*मानिकपुर ही कबीर बसेरी, मद्दति सुनि सेख तकी केरी।*
*ऊजे सुनी जौनपुर थाना, झूसी सुनि पीरन को नामा।।*
*इकेइस पीर लिखे तोहि ठामा, खतमा पढ़ै पैगंबर नामा।*

कबीर की यह यात्रा धर्म के सच्चे स्वरूप के शोध के लिए भी हो सकती है और सतगुरु के शोध के लिए भी। कबीर की रचनाओं से यह स्पष्ट झलकता है कि उन्हें शेख तकी आदि सूफियों में कोई श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई थी। शेख तकी को तो वह स्वयं उपदेश देते मिलते हैं।

यह है कबीर का जीवनवृत्त जो हमें उनकी अपनी अंतरसामग्री, उनकी रचनाओं में आए प्रसंगों से ज्ञात होता है, पर इस वस्तु के चारों ओर एक

अद्‌भुत कथा का ताना-बाना पूर दिया गया है और कबीर का जीवनवृत्त लौकिक तथा अद्‌भुत हो गया है।

कबीर ने केवल प्रत्यक्ष अनुभूति को ही महत्व दिया है। उन्होंने कहा है : *मैं कहता अंखियन की देखी*- पुस्तकीय ज्ञान का, भले ही वह वेद का हो अथवा कुरान का अथवा शास्त्रों या स्मृतियों का, उन्होंने विरोध किया। उन्होंने बताया कि मैंने तो *मसि कागद को छुआ नहीं*— फिर भी उनकी रची कितनी पुस्तकें बताई जाती हैं। ये सभी रचनाएं कबीर की नहीं हैं। कबीर ने साखी दोहों में रची है तथा बीजक आदि पदों में। बीजक को विशेष प्रामाणिक माना जाता है।

इस जीवन-परिचय से हमें यह ज्ञात होता है कि कबीर को किसी भी धर्म का उतना गहरा और शास्त्रीय ज्ञान नहीं था जैसा कुछ विद्वान समझते हैं। उनकी यथार्थ भूमि लोकवार्ता की भूमि थी जिसमें सभी धर्मों का साधारणीकरण हो सकता है। उस भूमि पर कबीर ने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति से मानव के आत्म-कल्याण का अधिकाधिक दर्शन प्रस्तुत किया।

इस कवि की जन्म-मरण तिथि भी विवादास्पद रही, किंतु साधारणतः संवत् 1455 में इनका जन्म और संवत् 1575 में मृत्यु मानी जा सकती है।

# काल और कर्मभूमि

***ब्रजनाथ गर्ग***

भारत में मध्य काल की समाज व्यवस्था मूलतः दो तत्वों के आधार पर संचालित हो रही थी– राजनैतिक क्षेत्र में सामंतवाद तथा धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में रूढ़िवादी ब्राह्मणवाद और इसी परंपरा से उत्पन्न वर्णव्यवस्था प्रधान जातिवाद। समाज एक ओर जहां राजनैतिक अस्थिरता, आर्थिक पिछड़ेपन और अस्तित्व रक्षा के प्रति अनिश्चय की भावना से ग्रसित था वहीं दूसरी ओर वह ब्राह्मणवाद की आध्यात्मिक तानाशाही और जातिवाद के कठोर बंधनों से बंधा हुआ था। उस समय समाज को जिस क्रांति की आवश्यकता थी और आर्थिक रूप से पिछड़े, सामाजिक रूप से दलित एवं पीड़ित तथा राजनैतिक रूप से संत्रस्त जिस 'जन' का मन भीतर ही भीतर कुलमुला रहा था, उस वर्ग के मानसिक असंतोष और उसकी भावनाओं तथा प्रवृत्तियों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति की मशाल प्रदान कर जिन समाज सुधारक संतों ने समाज को परंपरावादी ब्राह्मणवाद और जातिवाद के घेरे से निकाल कर सामाजिक परिवर्तन की गति को तीव्रता प्रदान की, उनके प्रतिनिधि के रूप में कबीर ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

### जन्म और मृत्यु

*पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बसे आई* तथा *नाम बरन कुल खोय* मे विश्वास करने वाले कबीर के कई नाम प्रचलित हैं, यथा– कबीर, कबिर, कबीरा, दास कबीर, भक्त कबीर, संत कबीर, कबीर दास, कबीर साहेब आदि। कई विद्वानों

ने इन नाम-रूपों के वैभिन्य को लेकर विस्तृत चर्चा की है। किंतु यह चर्चा अनावश्यक सी प्रतीत होती है। एक ही व्यक्ति के नाम के साथ कभी आदरसूचक के रूप में तथा कभी विशेषण मात्र के रूप में कई 'पूर्व सर्ग' और 'परसर्गों' का प्रयोग किया गया है, जिनके कारण किसी प्रकार की भ्रांति नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। कबीर के जीवन-परिचय से संबंधित तथ्यों तथा घटनाओं के देखने से विदित होता है कि उनमें इतना वैविध्य है कि निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है। भारतीय महापुरुष अपने जीवन वृत्त के संबंध में प्रायः मौन ही रहे हैं तथा लोक-मानस प्रायः भावुकता के वशीभूत उनके इर्द-गिर्द अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों की सृष्टि कर उनको अपने लिए श्रद्धेय बनाता रहा है— इस दुविधा के बीच जिज्ञासुओं को मात्र अंतः साक्ष्य तथा ब्राह्य साक्ष्यों को देखकर अपने विवेक से ही काम लेना पड़ता है। यही दुविधा कबीर के जीवन वृत्त के संबंध में भी विद्वानों को सताती रही है। उनके जन्म काल, जन्म स्थान, गृहस्थ जीवन, गुरु, साधना, साधना-स्थल तथा मृत्यु समय एवं स्थान आदि के संबंध में साहित्यिकों तथा कबीर पंथियों के बीच पर्याप्त मत वैभिन्य है, साथ ही कबीर के जीवन के संबंध में प्रचलित किंवदंतियों तथा उनके इर्द-गिर्द व्याप्त चामत्कारिक घटनाओं के भ्रमजाल ने इस क्षेत्र में और भी अधिक वैभिन्य को जन्म दिया है। यद्यपि इन दंतकथाओं का ऐतिहासिक महत्व नहीं होता किंतु पर्याप्त एवं विश्वसनीय सामग्री की अनुपलब्धता इनकी ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट कर देती है। कबीर के व्यक्तिगत जीवन के संबंध में भक्ति परंपरा का उल्लेख करने वाली जो प्रमुख पुस्तकें उपलब्ध हैं उनमें नाभादास कृत *भक्तमाल* तथा प्रियदास कृत उसकी टीका; रघुराज सिंह का *भक्तमाल*, अनन्त दास कृत *कबीर* तथा पीपा और रैदास की *परचाइयां* आदि पुस्तकें उपलब्ध हैं। किंतु इनमें से किसी में भी कबीर के जीवन परिचय संबंधी विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं होते। कुछ मुसलमान इतिहासकारों ने भी अपनी कृतियों में कबीर का उल्लेख किया है जैसे— अबुल फजल कृत *आइने अकबरी*, मोहसिन फनी की *दबिस्तां* तथा मौलवी गुलाम सरवर लिखित *खजानेतुल आसकिया*। किंतु इनमें भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं होती, साथ ही बील, फर्कहर, हंटर, मेकालिक तथा स्मिथ जैसे विदेशी एवं भंडारकर और ईश्वरी प्रसाद जैसे भारतीय इतिहासकारों ने भी कबीर की चर्चा की है और इन सभी ने कबीर को सिकंदर लोदी का समकालीन

तो माना है, किंतु जन्म-काल और जन्म-स्थान के विषय में मत वैभिन्य है।

श्री माधवजी ने कबीर की जन्म संबंधी किंवदंती का उल्लेख इस प्रकार किया है :

> कहते हैं कि जगदगुरु रामानंद स्वामी के आर्शीवाद से यह काशी की एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए। लज्जा के मारे वह नवजात शिशु को लहरतारा तालाब के पास फेंक आई। नीरू नाम का एक जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया, उसी ने बालक को पाला-पोसा। यह बालक कबीर कहलाया। कुछ कबीर पंथियों की मान्यता यह है कि कबीर का आविर्भाव काशी के लहरतारा तालाब में कमल के एक अति मनोहर पुष्प के ऊपर बाल के रूप में हुआ था। एक प्राचीन अमुद्रित ग्रंथ में लिखा है कि किसी महान योगी के औरस एवं प्रतीचि नामक देवांगना के गर्भ से भक्तराज प्रह्लाद ही कबीर के रूप में संवत 1455 ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को प्रकट हुए थे। प्रतीचि ने उन्हें कमल के पत्ते पर रखकर लहरतारा तालाब में तैरा दिया था और नीरू नामक जुलाहा दंपत्ति आकर जब तक उस बालक को ले नहीं गया, तब तक प्रतीचि उनकी रक्षा करती रही।

*कबीर चरित्र बोध* में भी कबीर का जन्म संवत 1455 ही माना गया है। कबीर पंथ में भी प्रचलित साखियों के अनुसार कबीर का जन्म संवत 1455 में लहरतारा तालाब में कमल के पुष्प पर ही माना जाता है :

*चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाट ठए।*
*जेठ सुदी बरसायत को, पूरन मासी प्रकट भए।।*
*घन गरजे दामिनि दमके, बूंदें बरसे झर लाग गए।*
*लहर तालाब में कमल खिले, तहं कबीर भानु प्रगट भए।।*

*कबीर चरित्र बोध* के अनुसार संवत 1455 ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को सोमवार का दिन पड़ता है जो कबीर पंथ में प्रचलित उक्त साखी से मेल

खाता है। संत साहित्य के विशेषज्ञ डॉ. श्यामसुंदर दास ने पहली साखी को कबीर के शिष्य धर्मदास द्वारा रचित माना है। अनंत दास जी ने *कबीर साहब की परचई* में उनका जन्म संवत 1457 स्वीकार किया है तथा विभिन्न साक्ष्यों और तर्कों के आधार पर डॉ. बड़थ्वाल कबीर का जन्म संवत 1427 और डॉ. केदारनाथ द्विवेदी उनका जन्म संवत 1425 मानते हैं। इस प्रकार कबीर के जन्मकाल के विषय में पर्याप्त मतभेद है किंतु अंतः और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अधिकतर विद्वान संवत 1455 को ही जन्मवर्ष स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार जन्म स्थान के विषय में भी मतैक्य नहीं है। काशी के अतिरिक्त आजमगढ़ जिले में स्थित बेलहारा ग्राम को भी कबीर का जन्म स्थान कहा जाता है। *जर्नल आफ दि यूनिवर्सिटी आफ बिहार* के नवंबर 1956 के अंक में डॉ. समुद्र झा ने अपने लेख में कबीर की जन्मभूमि मिथिला में सिद्ध करने का प्रयास किया है। किंतु डॉ. श्यामसुंदर दास और सीताराम चतुर्वेदी ने कबीर पंथ में प्रचलित किंवदंतियों के साथ-साथ कबीर साहित्य के अंतः साक्ष्यों का सहारा लेकर कबीर का जन्म स्थान *काशी* ही माना है[1] जो उचित प्रतीत होता है।

जन्म-काल एवं स्थान के अनुसार ही कबीर के मृत्यु-काल पर भी विद्वानों में मतभेद है। नाभादास कृत *भक्तमाल* में *महगर कीनो गौन* लिखा है, जिसके अनुसार उनकी मृत्यु 1549 में मगहर में ठहरती, किंतु कबीर पंथियों में प्रचलित एक अन्य साखी के आधार पर कबीर की मृत्यु महगर में संवत 1505 स्वीकार की गई है[2]। कहा जाता है कि यह साखी डॉ. एच. एल. विल्सन

---

1. अ. *कासी में हम प्रकट भए हैं, रामानंद चेताए।*
   आ. *पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बस आई।*
   इ. *बहुत बरस तप कीया कासी, मरनुभए मगहर के बासी।*
   ई. *तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा।*
2. *पंद्रह सौ और पांच में, मगहर कीन्हो गौन।*
   *अगहन सुदी एकादशी, मिल्यो पौन में पौन।।*

को मिली थी। इसी से मिलती-जुलती एक अन्य साखी[1] भी मिलती है। इस साखी का संबंध उनके शिष्य लहना सिंह के साथ जोड़ा जाता है। इसका उल्लेख गार्सां द तासी ने भी किया है। इस साखी के अनुसार उनकी मृत्यु संवत 1575 में ठहरती है जिससे दोनों साक्ष्यों में 70 वर्ष का अंतर आ जाता है। यदि संवत 1505 को प्रामाणिक माना जाए तो उन देशी एवं विदेशी विद्वानों के मत की पुष्टि नहीं होती जिन्होंने उन्हें सिकंदर लोदी का समकालीन माना है और यह भी स्वीकार किया है कि कबीर की भेंट सिकंदर लोदी से हुई थी और लोदी ने उन पर अत्याचार किए थे। इसका कारण यह है कि इतिहासकारों ने सिकंदर लोदी का शासन काल 1574-1583 माना है। कुछ विद्वानों ने कबीर का मृत्यु-काल 1552 और कुछ ने 1569 भी माना है किंतु इन मतों के पक्ष में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

संवत 1505 और 1575 में उनकी मृत्यु मानने वाले मतों के साथ कबीर के रौजा का भी संबंध जोड़ा जाता है, इस रौजे का निर्माण बिजली खां ने करवाया था। इसका पुनरुद्धार कराया फिदाई खां ने। *आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया* की रिपोर्ट के आधार पर इसका विवरण डॉ. फ्यूरं ने अपने ग्रंथ *मॉनुमेंटल एंटिक्विटीज आफ द नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज* में इस प्रकार दिया है :

> *बस्ती जिले के मगहर ग्राम में आमी नदी के दक्षिण तट पर कबीरदास जी का एक रौजा है जिसे बिजली खां ने 1500 में बनवाया था। उसका जीर्णोद्धार फिदाई खां ने 1642 में किया। सिकंदर लोदी एवं कबीर के मिलन की घटना के आधार पर निश्चित किया जा चुका है कि उस समय कबीर जीवित थे। विद्वानों का अनुमान है कि बिजली खां कबीर का भक्त था। उसने कबीर के जन्मकाल में ही उनके जन्मस्थान पर कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चलकर फिदाई खां ने उनकी मृत्यु पर उसे रौजे का रूप दिया होगा।*

---

1. *संवत पंद्रह सौ पचहत्तरा, कियौ मगहर को गौन।*
*माघ सुदी एकादशी, रल्यौ पौन में पौन।।*

यद्यपि इस उद्धरण से उनकी मृत्यु की बात निश्चित नहीं होती किंतु सर्वे की रिपोर्ट से रौजे के निर्माण का तर्कसम्मत उत्तर मिल जाता है।

कबीर की एक समाधि रतनपुर में भी बनी हुई है, जिसका उल्लेख अबुल फजल कृत *आइने अकबरी* में भी आया है। इसके आधार पर डॉ. चंद्रबली पांडेय ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि यही कब्र वास्तविक है और वहीं उन्हें मुस्लिम रीति-रिवाजों के अनुसार दफनाया गया होगा किंतु कब्र मात्र होना इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि उनकी मृत्यु रतनपुर में ही हुई। इस प्रकार संवत 1575 में मगहर में ही उनकी मृत्यु तर्कसम्मत लगती है।

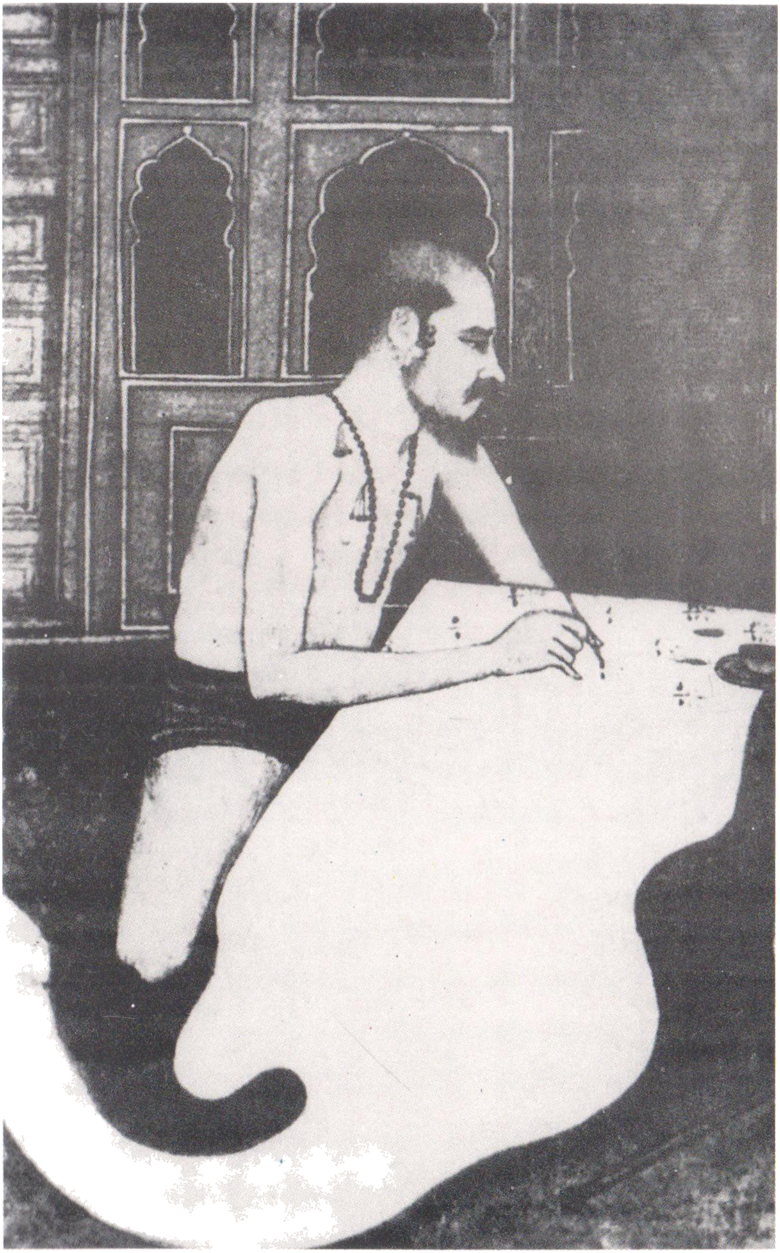
उक्त तर्कों और विभिन्न मत-मतांतरों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कबीर का जन्म काशी में हुआ, उन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा काशी में व्यतीत किया तथा अंतिम समय में वे मगहर चले गए थे।[1] काशी में रहने के पीछे उनका उद्देश्य समाज में व्याप्त इस रूढ़ि को तोड़ना रहा होगा कि मगहर में मृत्यु को प्राप्त होनेवाले जीव नरक में जाते हैं।[2] साथ ही इस उदाहरण से उन्होंने कर्मफल के सिद्धांत को प्रतिपादित करके समाज को यह भी बतलाने का प्रयास किया कि स्वर्ग-नरक कुछ नहीं, मनुष्य का कर्म ही महत्वपूर्ण है। यदि मनुष्य के कर्म अच्छे हैं तो मोक्ष मिलेगा ही इसमें 'राम' का कोई एहसान नहीं।[3] इस प्रकार आध्यात्मिक रूप से *हम न मरहिं मरिहै संसारा* जैसी उक्ति का प्रयोग करने वाला वह संत ऐहिक मृत्यु को प्राप्त कर अपने वंश में इस प्रकार मिल गया— *ज्यों जल में जल पैस न निकसै, त्यों ढुरी मिला.......।* अब वह शरीर रूप में जीवित नहीं था किंतु उसका संदेश पूरे समाज में व्याप्त था; उसे कैसे देख पाता कोई— *बूंद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ।*

---

1. *सगल जनम सिवपुरी गवाइयां*
*मरती बार मगहर उठि धाइया।*
2. *क्या कासी क्या मगहर अखर हृदै राम जो होइ।*
3. *जऊ कासी तनु तजहि कबीरा तो रामहि कौन निहोरा।*



संत कबीर का एक प्राचीन चित्र (सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)



पुरातत्व विभाग में उपलब्ध 15वीं शताब्दी का एक
चित्र (सौजन्य : पुरातत्व विभाग)



*लहरतारा (वाराणसी) का वह ऐतिहासिक तालाब जहां संत कबीर का आविर्भाव हुआ था (सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)*



***लहरतारा (वाराणसी) के ऐतिहासिक तालाब के तट पर ऐतिहासिक मंदिर (सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)***



नवाब बिजली खां द्वारा निर्मित कबीर रौजा (छाया : शमशेर आलम खान)

## जाति एवं व्यवसाय

श्री माधवजी ने लिखा है कि "कुछ लोगों का यह भी कथन है कि कबीर जन्म से ही मुसलमान थे और बड़े होने पर स्वामी रामानंद के प्रभाव में आकर उन्होंने हिंदू धर्म की बातें जानीं।" यद्यपि कबीर जैसे संत के लिए यह बात महत्वहीन है कि वे हिंदू थे या मुसलमान। वे स्वयं को अपने 'हरि' का 'जन' ही स्वीकार करते थे।[1] फिर भी कबीर ने अपने आपको अपनी साखियों में 'जुलाहा' 'कोरी', 'उदासी' तथा बणिजारा' आदि रूपों में परिचित कराया है।[2] उस युग में कपड़ा बुनने वाले मुसलमान *जुलाहे* और हिंदू *कोरी* कहे जाते थे। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें सामाजिक रूप से इन दोनों जातियों से महत्वपूर्ण 'योगी' या 'जुग्गी' जाति का होना स्वीकार किया है जिनके पूर्वजों ने कुछ ही समय पहले अपने आपको मुसलमान के रूप में परिवर्तित किया था।[3]

कुछ विद्वानों की दृष्टि में कोरी ही मुस्लिम धर्म ग्रहण कर लेने पर जुलाहे कहलाए और कबीर इसी जाति से संबंधित थे। जहां तक 'बणजारा' का संबंध है— यह जाति कपड़े के व्यापार से भी संबंधित थी। ये लोग कपड़ा बुनकर हाट-बाजार और पैंठों में बेचने के लिए ले जाते थे। कबीर की घुमंतू प्रकृति के साक्ष्यों के आधार पर इस जाति से भी इनका संबंध होने की संभावना व्यक्त की जा सकती है। डॉ. श्यामसुंदर दास एवं डॉ. रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि कबीर का जन्म हिंदू जाति में

---

1. *जाति पांति पूछे नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होइ।*
2. (अ) *तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, बूझइ मोर गियाना।*
   (आ) *दास जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी।*
   (इ) *हरि को नाम अभय पद दाता, कहै कबीरा कोरी।*
   (ई) *सायर तीन न बार न पारा, कहि समझावै रे कबीर बणिजारा।*
3. कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले ही योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी, या अभी होने की राह में थी। — डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी *कबीर*

तथा पालन-पोषण मुस्लिम जाति में हुआ था।[1] इस प्रकार किंवदंतियों, अन्य प्रमाणों एवं अंतः साक्ष्य के आधार पर यही विश्वसनीय प्रतीत होता है कि उनके माता-पिता जाति से हिंदू थे और उनका पालन-पोषाण मुस्लिम परिवार में हुआ था । यही कारण है कि उन पर दोनों धर्मों के संस्कारों की छाप थी और दोनों ही जातियों के लोग उनके प्रशंसक और अनुयायी थे। इतना होते हुए भी कबीर अपने ऊपर किसी धर्म या जाति का बंधन नहीं स्वीकार करते थे। उनकी तो स्पष्ट उक्ति थी— *जाति पांति पूछे नहीं कोइ, हरि को भजै सो हरि का होइ।* यही कारण है कि वे इतना नैतिक बल अर्जित कर सके कि सांप्रदायिक विद्वेष के उस युग में भी उन्होंने हिंदू और मुसलमान दोनों को उनके अंधविश्वासों और रूढ़ियों के लिए फटकार लगाई तथा दोनों के सत्पुरुषों, संतों और महापुरुषों से सत्संग लाभ कर ज्ञान अर्जित किया।

उनका तो जीवन दर्शन और लक्ष्य ही हिंदू-मुसलमान में एकत्व की स्थापना कर एक विश्वजनीन मानव-धर्म की स्थापना था। कबीर न हिंदू थे न मुसलमान। वे एक सच्चे मानव थे। कबीर न कोरी थे न जुलाहा। वे एक वास्तविक संत थे, जो जिंदगी भर 'सूत' के 'ताने-बाने' में ही जीवन-सत्य की खोज में लगे रहे। वे एक कर्मयोगी थे जिन्होंने क्षीण सामाजिक बंधनों को तोड़कर सच्चे मानवतावाद की स्थापना के लिए अपना पूरा जीवन लगा दिया।

### गुरु : रामानंद चेताए

*मसि कागद छुओ नहीं, कलम गही नहीं हाथ* की घोषणा करने और *पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।* का संदेश देने वाले कबीर ने किसी पाठशाला में विधिवत गुरु से अक्षर ज्ञान नहीं प्राप्त किया था। कबीर बहुश्रुत थे। उन्होंने संसार के वास्तविक 'अज्ञान' को पहचानकर वास्तविक एवं अतिम सत्य और ज्ञान की

---

1 कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होंगे, जो मुसलमान होते हुए भी योगियों के संस्कारों से संपन्न थे तथा दशनामी संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाईं कहलाते थे। इन गोसाइयों पर नाथ पंथ का पर्याप्त प्रभाव था।— डा. राजकुमार वर्मा

प्रतीति की थी। इसी तथ्य के आधार पर विद्वानों ने उन्हें 'निगुरा' भी कहा है अर्थात उनका कोई गुरु नहीं था और उन्होंने किसी ने दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। 'गोविंद' से भी अधिक महत्व 'गुरु' को देनेवाले कबीर निगुरे रहे हों, इस बात पर सहज विश्वास नहीं होता।[1]

भक्तिपरक प्राचीन साहित्य, लोकोक्तियां एवं किंवदंतियां यह बतलाती है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे। अनंतदासजी की *कबीर साहब की परचई* (र. 1657) में, *बड़े भाग रामानंद गुरु पाया। जनम जनम का भरम गमाया।।* कहकर रामानंद को ही कबीर का गुरु स्वीकार किया गया है। वास्तव में रामानंद ही उस युग में संपूर्ण उत्तर भारत में 'राम-नाम' का अमर वरदान देने वाले गुरु के रूप में प्रतिष्ठित थे।[2] स्वयं कबीर— *काशी में हम प्रकट भए हैं, रामानंद चेताए,* कहकर उन्हीं को अपना गुरु स्वीकार करते हैं। कबीर के शिष्य धर्मदास और गरीबदास जी ने भी उन्हें रामानंद का ही शिष्य स्वीकार किया है। रामानंद का नाम आते ही कबीर श्रद्धानत और विनम्र हो जाते हैं :

*कबीर रामानंद का, सतगुरु मिले सहाय।*
*जग में जुगति अनूप है, सोई दई बताय।।*

एक मत यह भी है कबीर ने पीतांबर पीर को अपना गुरु बनाया था। इस संबंध में कबीर की एक साखी का अंतः साक्ष्य दिया जाता है।[3] इस साखी के अतिरिक्त अन्य कोई पुष्ट प्रमाण इस संदर्भ में नहीं मिलता। इस प्रसंग में डॉ. मुंशीराम शर्मा का मत है कि संभवतः कबीर ने पीतांबर पीर अपने 'राम' को ही माना है। यह भी संभव हो सकता है कि पीतांबर पीर नामक व्यक्ति उस युग में कोई महत्वपूर्ण पुरुष हो जिस पर हिंदू और मुसलमान दोनों ही समान भाव से श्रद्धा रखते हों। संभव है कबीर भी इस सद्पुरुष के संपर्क में आए हों तथा उनसे प्रभावित हुए हों। इतने मात्र से ही यह स्वीकार

---

1 *गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौं पाय।*
*बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियौ बताय।।*

2 *भक्ति द्राविड़ उपजी, लाए रामानंद।*

3 *कासी गोमती तीर, जहां बसाई पीतांबर पीर।*

करना तर्कसंगत नहीं लगता कि पीतांबर पीर को कबीर ने गुरु बनाया अथवा माना हो।

जिस प्रकार हिंदुओं में यह विश्वास प्रचलित है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे उसी प्रकार मुसलमानों में यह माना जाता है कि वे शेख तकी के शिष्य थे। डॉ. वेस्काट ने अपनी कृति *कबीर एंड दि कबीर पंथ* में इन्हीं शेख तकी को उनका गुरु माना है किंतु उन्होंने अपने मत के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। प्रो. सुधाकर भी इस मत को अस्वीकार करते हैं और बतलाते हैं कि शेख तकी दो थे— एक मनकापुर वाले तथा दूसरे झूसी वाले। यह भी कहीं स्पष्ट नहीं है कि कबीर ने कौन से शेख तकी को गुरु बनाया था। हां, कबीर ने एकाध स्थान पर शेख तकी को संबोधित अवश्य किया है, किंतु उन्हें संबोधित करते हुए न वे विनम्र होते हैं और न श्रद्धानत ही, प्रत्युत ऐसा लक्षित होता है कि वे स्वयं गुरु बनकर ही उन्हें संबोधित कर रहे हों। [1] अनेक तर्क एवं पर्याप्त संदर्भ देकर डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने भी इस मत का खंडन किया है। डॉ. अरुण मानते हैं कि देशाटन के दौरान फकीरों के प्रसिद्ध केंद्र झूसी, जौनपुर और मानिकपुर आदि स्थानों की यात्राएं भी कबीर ने की थीं। इन स्थानों पर कबीर ने शेख तकी से सत्संग लाभ अवश्य प्राप्त किया होगा। [2] डॉ. अरुण ने भी रामानंद को ही कबीर का गुरु स्वीकार किया है ।

उक्त विवरण और तर्कों के आधार पर हम रामानंद को ही उनका गुरु स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि यही मत अधिक प्रचलित एवं मान्य भी है। रामानंद से ही उन्होंने दीक्षा भी ग्रहण की थी।

## देशाटन : काटै दीहै मैं फिरौं

कबीर घुमक्कड़ प्रकृति के थे। देशाटन से ही उन्होंने युग के महान संतों तथा सद्पुरुषों से सत्संग लाभ कर ज्ञान अर्जित किया था। यद्यपि

1. *घट घट है अविनासी, सुनहु तकी तुम शेख।*
2. डॉ सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' *कबीर विमर्श,* पृष्ठ 17-9

उनका अधिकांश जीवन काशी में ही बीता तथापि उस साधनहीन युग में भी उन्होंने लंबी-लंबी यात्राएं की थीं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने उनकी गुजरात यात्रा का वर्णन किया है। *आइने अकबरी* के अनुसार उन्होंने विस्तृत क्षेत्रों का भ्रमण किया था। कुछ दिन वे जगन्नाथपुरी में भी रहे थे। *हिस्ट्री आफ मराठा पीपुल* में उनकी दक्षिण अर्थात् पंढरपुर की यात्रा का वर्णन आया है। अन्यत्र भी उनकी झूसी, जौनपुर और मानिकपुर की यात्राओं की चर्चा की गई है। *कबीर मंशूर* नामक ग्रंथ के अनुसार तो उन्होंने बगदाद, समरकंद, बलख-बुखारे आदि स्थानों की भी लंबी यात्राएं की थीं। इन सुदूर क्षेत्रों के साथ-साथ उत्तर भारत में काशी के आसपास तो वे घूमते ही रहते थे। अपने वस्त्र-उद्योग के संबंध में भी वे संभवतः आसपास के क्षेत्रों में आते-जाते रहते होंगे। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि उन्होंने अपने आपको 'बणजारा' कहकर पुकारा है।

इन यात्राओं से ही वे भारतीय जीवन में व्याप्त विभिन्न धार्मिक संप्रदायों ओर लोक जीवन में व्याप्त रूढ़ियों और अंधविश्वासों से परिचित हुए थे— जिन पर उन्होंने अपनी वाणी से कठोर प्रहार किए हैं। कबीर जैसे समाज सुधारक के लिए इस प्रकार से यह आवश्यक ही था कि वह देश के विभिन्न भागों, वर्गों, धर्म-संप्रदायों आदि से परिचय प्राप्त करे। इस तथ्य का एक पुष्ट प्रमाण यह है कि कबीर की भाषा पर विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों का स्पष्ट प्रभाव है।

**गृहस्थ : उपजा पूत कमाल**

कबीर एक सामान्य लौकिक गृहस्थ थे जिन्होंने जीवन में शोषण और गरीबी को देखा और भोगा था। उन्होंने स्वयं कहा है :

*जद का भाई जनमिया कभी न पाया सुक्ख।*
*डाली डाली मैं फिरूं, पातै पातै दुख।।*

अपनी फक्कड़ी और मस्ती की प्रवृत्ति के कारण अक्सर उन्हें मां की

झिड़कियां सुननी पड़तीं और पत्नी के उलाहने, तिस पर कपूत कमाल और भरे-पूरे परिवार के भरण-पोषण का दायित्व। उन्होंने एक कर्मयोगी के अनुरूप अपने इस दायित्व का यथाशक्ति निर्वाह किया। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उन्होंने दो विवाह किए थे किंतु यह प्रामाणिक नहीं है सिवाय इसके कि उन्होंने अपनी रचनाओं में पत्नी (नारी) को विभिन्न नामों से संबोधित किया है। वास्तविकता यह है कि वह फक्कड़ और मस्तमौला संत प्रेम की अनन्यता और विह्लता के क्षणों में कपड़ा बुनते-बुनते काव्यात्मक शैली में बोलने लगता और मस्ती में तुकबंदी करने लगता। ऐसे में वह अपनी पत्नी को अलग-अलग संबोधनों से संबोधित कर देते थे। उनकी पत्नी का नाम लोई तथा पुत्री का नाम कमाली था।

कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि वे अविवाहित थे। इस मान्यता का आधार यह है कि कबीर का स्थान-स्थान पर नारी का हेय-दृष्टि से चित्रण किया है।[1] किंतु वस्तुस्थिति यह है कि जहां उन्होंने नारी की अवमानना की है वहां या तो उनका मतलब पथभ्रष्ट कुलटा नारी से है या उसे 'माया' के प्रतीक रूप में चित्रित करने से।[2] बार-बार पर उन्होंने पतिव्रता नारी की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।[3]

हां ! जीवन के अंतिम क्षणों में, भक्ति और साधना के आवेश में जब वे पारिवारिक जीवन से ऊब गए होंगे तो संभवतः उन्होंने पूर्ण जीवन-भोग के पश्चात ही कहा था— *कबीर त्यागा ग्यान करि, कनक कामिनि दोइ*— स्पष्ट है कि वे अविवाहित अथवा पलायनवादी नहीं थे अपितु एक सच्चे कर्मयोगी इंसान और भक्ति तथा प्रेम के रस में रचे-पचे संत थे। तभी तो उन्होंने कहा:

*सहजै सहजै सब गए, सुत वित, कामिनि काम।*
*एकमेक होई मिलि रहा, दास कबीरा राम।।*

---

1 *नारी की झांई परत, अंधा होय भुजंग।*
*कबिरा तिन की क्या कहें, जे नित नारी संग।।*

2 *माया महाठगिनि हम जानि।*

3 *पतिव्रता के रूप पर, वारूं कोटि सरूप।*

**कबीर और कबीर पंथ**

मध्ययुग की सामान्य परंपरा थी कि तत्कालीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के संबंध में व्यक्त किए गए प्रशंसात्मक उद्गार ही लोकोक्तियों का रूप ग्रहण कर लेते थे तथा परवर्ती जनमानस उन लोकोक्तियों पर कल्पना का आवरण डाल कर जीवन के यथार्थ को या तो छिपा लेता अथवा धूमिल कर देता था। जिन महापुरुषों के नाम से पंथ या संप्रदाय चल पड़ते थे उनके व्यक्तित्व पर अलौकिकता को आरोपित कर, मनगढ़ंत बातों के आधार पर उनमें देवत्व तक की स्थापना कर दी जाती थी। कबीर भी जन-मानस और अपने प्रशंसकों-अनुगामियों की इस प्रवृत्ति के शिकार हुए। यद्यपि कबीर ने अपने जीवन काल में किसी पंथ अथवा संप्रदाय की प्रतिष्ठा नहीं की किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात उनके नाम पर पंथ, संप्रदाय और कई गद्दियों की सृष्टि होती चली गई। उनके प्रशंसकों, अनुयायियों और उनसे उपदेश ग्रहण करने वालों में हिंदू और मुसलमान दोनों थे और उन दोनों में ही कबीर के संबंध में अनेक भ्रामक बातें प्रचलित हुईं। किंवदंती है कि जब कबीर की मृत्यु हुई तो अंतिम संस्कार को लेकर हिंदू और मुसलमानों में मतभेद हुआ किंतु जब उनके शव पर से चादर उठाई गई तो कबीर के शव के स्थान पर मात्र कुछ पुष्प मिले जिन्हें दोनों ने आपस में बांट लिया और अपनी-अपनी इच्छानुसार उन फूलों से उनका अंतिम संस्कार किया।

कुछ व्यक्तियों का यह भी कहना है कि उन्होंने अपने जीवन-काल में ही पंथ का निर्माण कर दिया था किंतु यह एक भ्रामक प्रचार-मात्र है। कबीर जिस व्यक्तित्व के धनी थे, उसे देखते हुए इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनकी मृत्यु के पश्चात ही उनके भक्तों द्वारा भावावेश में आकर कबीर पंथ की स्थापना की गई तथा उन्हें अलौकिक दिव्य पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया। यह भावावेश इस सीमा तक पहुंचा कि उनमें देवत्व का आरोप कर उन्हें अवतार तक घोषित करने का प्रयास किया गया। इन्हीं कारणों से कबीर के जीवन-वृत्त संबंधी अनेक साक्ष्य भ्रष्ट

होकर अविश्सनीय हो गए।

## व्यक्तित्व : लिए लुकाठी हाथ

कबीर मध्ययुगीन धर्म-साधना और संत्रस्त समाज में एक विलक्षण क्रांतिकारी व्यक्तित्व के रूप में अवतरित हुए। उन्होंने अपने असाधारण व्यक्तित्व में ज्ञान, भक्ति, कर्म और प्रेम का समन्वय कर अपनी अनवरत साधना से शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभूत सत्य को काव्यमय अभिव्यक्ति दी और समाज के पुनरुद्धार का शंखनाद किया। कबीर के व्यक्तित्व के निर्माण में जहां उनके सामाजिक परिवेश तथा व्यक्तिगत जीवन के अंतर्विरोधों का महत्वपूर्ण स्थान है वहीं उन पर कई प्रकार के देशी-विदेशी चिंतकों, धर्म-संप्रदायों तथा दार्शनिक मतों का भी स्पष्ट प्रभाव है। शांकर-अद्वैत, योगियों का हठ योग, वैष्णवों की शरणागति, सूफियों की इश्क हक़ीकी तथा समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों के प्रभाव उन पर स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

कबीर के निर्द्वन्द्व विचार, स्पष्ट दृष्टिकोण और उनके अक्खड़ स्वभाव ने अपने युग की परंपराओं, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम, खुदावाद तथा जातिवाद पर कठोर प्रहार किए तो उनके अनुभूत ज्ञान और अभिव्यक्ति की सादगी ने परंपरागत साहित्यिक-प्रवृत्तियों और भाषा के घेरों को तोड़कर सर्वथा नवीन मार्ग का निर्माण किया। कबीर ने जहां हिंदू-मुसलमान दोनों को फटकार लगाई वहीं अपने प्रेम के प्रसार-प्रचार से मानवतावाद को नई भावभूमि प्रदान की और मानव-मात्र की समानता का समर्थन किया।

कबीर का व्यक्तित्व मानो उनके युग की राजनैतिक, सामाजिक धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित था। कबीर ने जिस अद्वैतवाद के दर्शन को स्वीकार किया उसका लक्ष्य था वर्गभेद तथा वर्णाश्रम के बंधनों को तोड़कर सामान्य जन-मानस की आशाओं और आकांक्षाओं को उभारना।

कबीर का व्यक्तित्व ऊंची जाति के लोगों, अभिजात्य-सामंती वर्ग, खुदावादी कठमुल्लों एवं ब्राह्मणवाद के विरुद्ध एक चुनौती बनकर आया

जिसने दलित, शोषित और पीड़ित वर्ग में व्याप्त असंतोष को वाणी दी और दूषित सामंती प्रथाओं तथा मानसिक दासता के विरुद्ध संघर्ष किया। वे अपने विचारों के प्रति जितने आस्थावान थे उतनी ही सशक्तता से उन्हें अभिव्यक्ति देते थे। वास्तव में कबीर एक क्रांतिकारी विचारक, महान समाज सुधारक तथा विलक्षण प्रतिभा के धनी विद्रोही कवि के रूप में युग के समक्ष दृढता से खड़े हुए। तभी वे धर्म, समाज तथा साहित्य के क्षेत्र में क्रांति का उद्घोष कर सके। उन्होंने स्पष्ट कहा :

*कबिरा खड़ा बजार में, लिए लुकाठी हाथ।*
*जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ।।*

जाहिर है उन्होंने घर फूंकने वालों को यूं ही निमंत्रण नहीं दिया। उन्होंने पहले अपने घर में आग लगाई, तब दूसरों का आह्वान किया था :

*हम घर जाल्या आपणां, लिए मुराडा हाथि।*
*अब घर जालौ तास का जे चलें हमारे साथि।।*

# काव्य, रहस्यवाद और प्रतिरोध

## *प्रकाश सत्येन नटराजन*

काव्य ऐसी भाषाई कला है जहां भाषा लयात्मक ध्वनि अथवा लिपि के द्वारा प्राप्तव्य अर्थ के माध्यम से ऐसी मनःस्थिति सहृदय श्रोता या पाठक के मन में उत्पन्न करने का उद्योग करती है जो उसे ग्राह्य है। इस दृष्टि से काव्यार्थ या काव्यात्मक प्रभावोत्पादकता सार्वभौम नहीं होती बशर्ते कि पूर्व में ही विभिन्न सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों से और स्वयं अपनी गुणवत्ता से काव्य का सार्वभौमीकरण हो गया हो। काव्य का उत्पादन और उसका प्रचार और प्रसार जगत के सामान्य घटनाक्रम के अधीन है न कि उसका नियामक या उससे स्वतंत्र। जिस काव्य को हम कालजयी और सार्वभौम कहते हैं, उसे आत्मसात कर सकने की अनुभूति विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न होती है जो कि सामान्य सांस्कृतिक परिवेश और सामाजिक-भौतिक जगत के घटनाक्रम से बाहर नहीं हो सकती कबीर की प्रसिद्धि राष्ट्रीय स्तर पर तो है ही, पर विशेषकर रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा उन्हें अपनाए जाने के उपरांत उनकी ख्याति अंतर्राष्ट्रीय भी हो गई है। यह बात कुछ आश्चर्यजनक है क्योंकि मध्ययुगीन भारतीय संत साहित्य, साहित्यिकता या साहित्यिक कला से प्रतिबद्ध नहीं था और न ही उसका ध्यान विशेषकर सामाजिक क्रांति या सुधार की तरफ था, अपितु वह आध्यात्मिक रहस्यवाद में केंद्रित था, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत मोक्ष था। फिर भी अपवादस्वरूप कबीर में आध्यात्मिक रहस्यवाद के सभी तत्व प्रचुर रूप से उपलब्ध रहने के बावजूद उसमें रूपक विधान उत्कृष्ट कोटि का है और विशुद्ध काव्य की उपस्थिति भी कहीं-कहीं दिखाई देती है। उनके काव्य के थोड़े से भाग में सामाजिक प्रतिरोध

तीक्ष्ण और कभी-कभी अशालीन व्यंग्य के माध्यम से परिलक्षित भी होता है जिसकी चर्चा भी की जाएगी।

प्रतिरोध या क्रांति संज्ञेय नियतिवाद पर आधारित है जो स्वयं आधुनिकता के विचार का मूल आधार है। संज्ञेय नियतिवाद का अर्थ है कि संसार माया न होकर वास्तविक है जिसे मनुष्य अपने इंद्रिय ज्ञान द्वारा कुछ इस प्रकार संगठित करने में सक्षम है जिससे कि प्रासंगिक रूप से कुछ न कुछ व्यावहारिक या सार्थक निष्कर्ष निकाले जा सकें। ज्ञान के व्यावहारिक या सार्थक निष्कर्ष का अर्थ है कि ज्ञान की विषयवस्तु या अवधारणा का सर्वपक्षीय होने के स्थान पर अल्पपक्षीय होना। सर्वपक्षीयता में एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व एक-दूसरे को काटकर शून्यार्थ और अकर्मण्यता को जन्म देते हैं जबकि अल्पपक्षीयता में सार्थक कर्म सुनियोजित रूप से चलता रहता है। फिर भी सार्थक कर्म का अल्पपक्षीयता पर आधारित होना कुछ अपने में सार्थक और उत्साहवर्द्धक नहीं लगता क्योंकि इससे सभी अर्थ और कर्म की निरर्थकता और दिशाहीनता का आभास मिलता है। क्रांति या प्रतिरोध आधुनिकता का आवश्यक नहीं, मात्र संभाव्य तत्त्व है जो आस्था और कर्म के लिए उत्साह सृजन करता है। इस संदर्भ में 'आधुनिकता' और क्रांति या प्रतिरोध किसी स्थान या काल से उद्‌भूत या प्रतिबद्ध नहीं हैं। सामान्यतः यूरोप के 1789 और 1917 के बीच के काल को आधुनिकता और क्रांतिकारी प्रतिरोध का मानक माना जा सकता है, परंतु आधुनिकता के विचार विभिन्न युगों और सभ्यताओं में देखे जा सकते हैं। सातवीं शताब्दी में इस्लाम का अभ्युदय एक आधुनिक और क्रांतिकारी घटना है जो कि जगत की वास्तविकता को महत्त्व देने के साथ-साथ मनुष्य मात्र के लिए प्रासंगिक ईश्वर प्रदत्त अल्पक्षीय व्यावहारिक ज्ञान और कर्म का संदेश देता है जो कम से कम तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक कमजोर नहीं पड़ता। 'ऐतिहासिक' या यूरोपीय आधुनिकता का सामान्य सभ्यतामूलक आधुनिकता से कोई विभेद नहीं है, यदि विभेद है तो वह सभ्यता और आदिम समाज के बीच अंतर में निहित है। आदिम समाज में परिवर्तन की गति अत्यंत धीमी रहने के कारण उस परिवर्तन का घड़ी की चलती सुइयों की तरह ऐंद्रिक आभास नहीं होता, अतः इस स्थिर जगत में मानव ज्ञान पूर्ण और

सर्वपक्षीय हो जाता है जिसमें क्रांति या प्रतिरोध के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। परंतु परिवर्तन के दृश्यमान होने के उपरांत प्रत्येक सभ्य समाज में जगत के घटनाक्रम के यथार्थ और उसके परिवर्तन से उत्पन्न क्रांति या प्रतिरोध के स्वर किसी न किसी रूप में उभरते हैं।

सामाजिक प्रतिरोध क्रांतिकारी हो भी सकता है और नहीं भी। मात्र सामाजिक प्रतिरोध में शत्रु की कोई बौद्धिक व्याख्या नहीं होती। यह प्रतिरोध विध्वंस और निर्माण का मिश्रित रूप है। यह ऐसे यथार्थ के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है जो सुनिश्चित और मंगलकारी है, परंतु जिसमें विध्वंस हेतु शत्रु का निर्धारण समय और स्थिति के अनुसार करना होता है। क्रांतिकारी सामाजिक प्रतिरोध में स्वयं क्रांतिकारी चेतना वास्तविक जगतीय क्रिया-कलाप का एक भाग है जिसके द्वारा विध्वंस और निर्माण की प्रक्रिया मनुष्य कर्म द्वारा संपन्न होने के बावजूद पूर्वनिर्धारित है। इस क्रांतिकारी प्रक्रिया का संज्ञान स्वयं इस प्रक्रिया से उद्भूत और इसका भाग है जिससे ज्ञान एवं यथार्थ का विभाजन भी अंततः उचित नहीं है क्योंकि सभी कुछ यथार्थ द्वारा पूर्वनिर्धारित है। मानवीय स्वतंत्रता इसी में है कि वह जाने कि वह जगत से स्वतंत्र नहीं और तदनुसार ही आचरण करे।

आधुनिकता, प्रतिरोध या क्रांति के दूसरे छोर पर संशयवाद और रहस्यवाद हैं। एक स्तर पर आधुनिकता, प्रतिरोध और क्रांति रहस्यवाद के मुकाबले संशयवाद के अधिक करीब हैं, क्योंकि वैज्ञानिक और क्रांतिकारी दोनों ही प्रकार की चेतनाओं के लिए मनुष्य में यथार्थ और परंपरा के विरुद्ध प्रश्न करने की क्षमता होनी चाहिए जो वास्तव में संशय की मनःस्थिति से ही उत्पन्न हो सकती है। परंतु एक दूसरे स्तर पर संशयवाद का 'उग्र' या दार्शनिक सिद्धांत जगत और उसके ज्ञान को ही नकारता है, जिससे स्वयं आधुनिकता, प्रतिरोध या क्रांति के विचार का आधार ही समाप्त हो जाता है। अतः एक विशुद्ध संशयवाद जो सभी प्रकार के ज्ञान की संभाव्यता को नकारता है, किसी भी सामाजिक संगठन, आंदोलन, प्रतिरोध या क्रांति का आधार नहीं हो सकता। इसी प्रकार जहां एक ओर रहस्यवाद आधुनिकता, प्रतिरोध या क्रांति का विरोधी है, वहीं इसमें निहित दो तत्व आधुनिकता

एवं प्रतिरोध अथवा क्रांति के लिए अत्यधिक प्रासंगिक हैं। पहला तो यह कि रहस्यवाद यथार्थ को मान्यता देता है। जहां तक मेरी जानकारी है, सभी रहस्यवादी सिद्धांत, साधनाएं और पद्धतियां मानकर चलती हैं कि रहस्यवादी ज्ञान का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार के यथार्थ को जानना या उसका अंगीभूत होना है। आधुनिकता और क्रांति के विचार एक स्तर पर जगत् के यथार्थ को स्वीकार करते हैं, वह आधुनिक क्रांति का विचार स्वयं इस विचार को जगतीय प्रक्रिया का अनिवार्य अंग भी मानता है जहां ज्ञान, कर्म और यथार्थ में कोई भेद नहीं किया जा सकता। संशयवाद, जो विध्वंसात्मक रुझान रखता है, इस रूप में प्रतिरोध या क्रांति के एक पक्ष को ही उजागर करता है और मित्र और शत्रु में भेद नहीं करता, जो कि प्रतिरोध या क्रांति के लिए आवश्यक है। प्रतिरोध या क्रांति पारंपरिक युद्ध के नियमों का पालन करते हैं जिसमें ध्येय मात्र शत्रु-विनाश है, जबकि संशयवाद परमाणु युद्ध के समान है, जिसमें सर्वनाश सुनिश्चित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वास्तव में संशयवाद के परमाणु युद्ध में किसी का विनाश नहीं होता, मात्र सड़ी-गली मान्यताओं और संस्कारों से वातावरण का परिष्कार होता रहता है।

इसके विपरीत रहस्यवाद व्यक्ति और यथार्थ के मध्य तादात्म्य स्थापित करता है जिसका आधार बौद्धिक या व्यावहारिक न होकर असंप्रेषणीय अनुभूति है जिसके लिए सामाजिक शक्ति या संगठन के प्रश्न गौण रहते हैं। फिर भी धर्म द्वारा रहस्यवाद ने सामाजिक प्रश्नों और संघर्ष के माध्यम से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सोलहवीं शताब्दी में मार्टिन लूथर या टॉमस मुंत्सर यूरोप के इतिहास में महत्वपूर्ण विचारों और घटनाक्रम को जन्म देते हैं वह उन्नीसवीं शताब्दी में चीन का ताइपिंग विद्रोह रहस्यवाद के क्रांतिकारी पक्ष को भी सामने रखता है। कुल मिलाकर संशयवाद, रहस्यवाद, प्रतिरोध और क्रांति के विचारों में अनेक विरोध और कुछ समानताएं परिलक्षित होती हैं जिनके द्वारा सामाजिक घटनाक्रम में इनकी प्रासंगिकता बनी रहती है। बल्कि रहस्यवाद का तो साधारण मनुष्य के मनोविज्ञान से गहरा रिश्ता है। इस मनुष्य की मनःस्थितियां भी गोपनीय और असंप्रेषणीय हैं और जो कुछ भाषा या व्यवहार से वह अपने को अभिव्यक्त करता

है, वह उसकी मनःस्थिति का धुंधला और कभी-कभी तो नितांत भ्रामक प्रतिबिंब होता है। अतः रहस्यवाद इंद्रियातीत और अबौद्धिक होते हुए भी सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य है, विशेषकर जब उसका प्रभाव उसके जीवन पर सोद्देश्यता और मंगल का अनुपूरक हो लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता। कभी-कभी रहस्यवाद की टकराहट सामाजिक व्यवस्था से भी हो सकती है जैसे मंसूर हल्लाज या एक सीमा तक स्वयं कबीर। पर इसके विपरीत यह प्रतिक्रियावादी सामाजिक संस्थान का समर्थन भी कर सकता है जिसके माध्यम से यह सामाजिक रूढ़िवाद का समर्थक बन जाता है। कबीर में सामाजिक रूढ़िवाद के भी अनेक लक्षण हैं जिनकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

कबीर के काव्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। उनकी अधिकांश कविता केवल 'भौतिक' लक्षणों के आधार पर ही कविता कही जा सकती है क्योंकि वह छंदबद्ध है, परंतु जिसका उद्देश्य मात्र एक प्रकार के रहस्यवादी विचार का प्रतिपादन करना है। साहित्यिक दृष्टि से यह कबीर वाणी का निकृष्ट भाग है और संभवतः उनकी वाणी का यह अधिकतम भाग भी है। उनके काव्य का दूसरा भाग वह है, जिसमें उनका प्रतिरोध, फक्कड़पन और क्रोध बहुत सीधे और असाहित्यिक रूप से अभिव्यक्त है और जो कभी-कभी अभद्र भी हो जाता है। उनकी कविता का काव्यात्मक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ भाग वह है जहां वह अपने रहस्यवादी अध्यात्म को बहुत सुंदर और विस्तृत रूपक विधान के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। इस श्रेणी में उनके अत्यंत प्रभावोत्पादक 'हाइकू' जैसे पद्यांश भी आते हैं, वह दूसरी ओर नजीर अकबराबादी जैसी कविताएं जिनमें प्रत्यक्ष यथार्थ का सीधा और सपाट, परंतु अत्यंत सरस वर्णन हमें उपलब्ध होता है। ये कविताएं सिद्ध करती हैं कि इनकी प्रभावोत्पादकता भाषाई चमत्कार, रूपक, अलंकार या वक्रोक्ति पर आधारित नहीं है, अपितु ये यथार्थ के सीधे चित्रण के माध्यम से भी भावोद्वेलन की क्षमता रखती है।

कबीर के काव्य का मुख्य तत्त्व उसकी आध्यात्मिक सोद्देश्यता है जो मात्र भावोद्वेग न होकर जीवन का— अनुभूति, विचार और व्यवहार के स्तर पर मार्ग निर्देशन करता है। इस प्रकार कबीर की प्रथम श्रेणी की कविता को

सर्वसाधारण के लिए उपादेय होना स्वाभाविक है।

दूसरी श्रेणी की कविता की भी सामाजिक प्रासंगिकता है क्योंकि यह सामाजिक कुरीतियों और पाखंड के खिलाफ आवाज उठाती है, लेकिन इसकी अभिव्यक्ति अभद्र और फूहड़ है। उदाहरणतः शाक्तों को कुत्ते जैसा मानना (*कुत्ते को स्मृति सुनाना और शाक्त के सम्मुख ईश्वर का गुणगान एक जैसे हैं।*) सुन्नत के बारे में कहना कि स्त्रियों की सुन्नत न हो पाने से वह मुसलमान कैसे होंगी, मस्जिद में मुल्ला की अजान के संदर्भ में ईश्वर के बहरा होने पर उनकी व्यंग्योक्ति, श्राद्ध भोज से असली लाभ लेने वाले कुत्ते और कौओं का होना, ब्राह्मण को अपने समान योनि मार्ग के अलावा किसी दूसरे मार्ग से उत्पन्न होने की चुनौती देना, इत्यादि।

कहीं-कहीं निर्लज्ज फक्कड़ होकर राही मासूम रजा जैसे प्रयोग भी वे कर सकते हैं :

*हम अपतह अपनी पति खोई।*
*हमरे खोजि परहु मति कोई।।*
*इस मंदे-मंदे मन माहीं।*
*साझ पाति काहू सिउ नाहीं।*
*पति अपति ताकी नह लाज।*
*अब जानहुगे जब उघरैगो पाज।।*

तीसरी श्रेणी की कविता में बहुत कुछ साहित्यिक दृष्टि से प्रभावशाली और महान है जिसमें उनकी उलटबांसी के काव्यार्थ का चमत्कार शामिल है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति वर्णन कबीर में नगण्य है और जहां है भी तो वह बादल, बिजली, आंधी और वर्षा के रूप में किसी गहन रहस्यवादी मनःस्थिति का प्रतीक है। लेकिन कभी-कभी यह वर्णन अत्यंत सजीव हो उठता है :

*देखो भाई ज्ञान की आई आंधीं*
*सभै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माइया बांधीं।*

*दुचिते की दुइ थूनी गिरानी मोहू बलेंडा टूटा।*
*तिसना द्दानि परी कर अपरि दुरमति भांडा फूटा।।*
*आंधी पाछे जो जलु बरखै तिहि तेरा जनु भीना।*
*कहि कबीर मानि भइया प्रगासा उदै भानु जब चीना।।*

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रकृति वर्णन कबीर की विशेषता नहीं, परंतु जहां पंर यह उपलब्ध है उसका प्रभाव सटीक और आनंददायक है। दूसरी ओर *मानसरोवर और हंसों के मोती चुगने* की उपमा बेजान-सी लगती है।

साहित्य और अन्य कलाओं में यथार्थ के प्रस्तुतीकरण के आनंददायक होने का मुख्य कारण है कि हम प्रायः यथार्थ के एक भाग बने रहते हैं, उसके बाहर होकर उसके दर्शक या आस्वादक नहीं बन पाते जो साहित्य और दूसरी कलाओं के माध्यम से हो सकता है। किसी ऐसी स्थिति का कलात्मक विवरण, जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक यथार्थ से पृथक है, कल्पना या संस्कार के माध्यम से हमें उसका पर्यवेक्षक या आस्वादक बना सकता है, लेकिन उसमें पर्यवेक्षण या आस्वादन की वैसी अनुभूति है जिसके द्वारा हम चिंता और शोक से परिपूर्ण यथार्थ से कटकर उस पर बाहर से शांत और निष्काम भाव से दृष्टिपात कर सकते हैं।

कबीर के यथार्थवाद का सबसे ज्वलंत उदाहरण निम्नलिखित पद्यांश है, जिसमें न तो कोई रूपक है, न कोई वक्रोक्ति और न ही कोई संदेश और जिसका सीधा-सादा शीर्षक 'जुलाहे की मुसीबत' के सिवा कुछ नहीं हो सकता। यहां यथार्थ वर्णन के माध्यम से विशुद्ध काव्य का सृजन हुआ है। इसमें जुलाहे की रोजमर्रा की तकनीकी शब्दावली का बहुत अधिक प्रयोग है, जिसके कारण डा. रामकुमार वर्मा के शब्दों में आधुनिक हिंदी अर्थ भी उद्धृत करना आवश्यक है। यह पद्यांश इस प्रकार है :

*गज नव गज दस गज इकीस पुरीआ एक तनाई।*
*सात सूत नवखंड बहतरि पाटु लगो अधिकाई।।*

*गई बुनावन माहो*
*कर छोड़िऔ जाई जुलाहो।*
*गज न मिनीऔ तोति न तुलिऔ पाचनु सेर अढ़ाई।।*
*जो करि पाचनु बेगि न पावे झगरू करै कर हाई।*
*दिनकी बैठ खसम की बरकस इह बेला कत आई।।*
*छूटे कूंडे भीगे पुरीआ चलिओ जुलाहो रीसाई।*
*छोछी नली तंतु नह निकसै न तर रही उलझाई।।*
*छोड़ि पसारू ईहा रहु बपुरी कहु कबीर समझाई।।*

नौ गज, दस गज और इक्कीस गज की एक पुरिआ तानी गई। (अर्थात नारी पर ताने और बाने को बुनने से पहले फैलाया। यहां नौ गज और दस गज बाने और इक्कीस गज ताने के लिए मानना चाहिए।) उस पुरिआ के फैलाव में साठ सूत रखे गए और उसमें नवखड डालकर राछ के द्वारा बहत्तर भाग किए। इस प्रकार इस करघे पर बहुत वस्त्र लगा। यह वस्त्र बुनवाने के लिए (मां) चली लेकिन जुलाहा घर छोड़कर जा रहा है उसका कारण यह है कि न तो कपड़ा करचे के बेलन पर लिपटता है और न वह मोर— (लकड़ी की कमनियों के सहारे) आदि से ठीक तरह से सधा ही रहता है क्योंकि अधिक मांड़ लग जाने से ढाई सेर कपड़ा पांच सेर हो गया है। (यदि बुनने की सुविधा के लिए मांड़ कम लगाया जाए और) ढाई सेर का पांच सेर न किया जाए तो वह झगड़ालू स्त्री झगड़ा करने लगती है। (वह झगड़ा इसलिए करती है कि यदि मेरा कपड़ा अधिक भारी होगा— वास्तव में हो ढाई सेर ही लेकिन यदि वह पांच सेर के वजन का हो जाए तो पैसे अधिक मिलेंगे लेकिन बेचारे जुलाहे की मुसीबत यह है कि यदि वह कपड़ा भारी करने के लिए मांड अधिक लगाता है तो या तो कपड़ा करघे में नहीं लिपटता या कोशिश करने पर भी खिंचाव में झोल आ जाता है। सूत का फैलाव तुला नहीं रहता।) फिर कहीं दिन को भी बैठकर बुना जाता है। दिन का बाजार (बैठ या पैठ) है जहां अच्छे-अच्छे खरीद करने वाले मालिक आते हैं, उनसे ही बरकत होती है। यह कोई वक्त है कपड़े बुनने का ? इस समय यहां क्यों कपड़ा बनवाने के लिए आई है ? (प्रातःकाल कपड़े बुनने का अच्छा समय होता है।) फिर पास

रखे पानी का यह कूंडा भी फूट गया जिससे सारी पुरिया भीग गई। इसलिए जुलाहे को गुस्सा आ गया। फिर बाने को बुनने वाली जो ढरकी (या शटल कौक) है, वह भी खराब हो गई है। या तो उससे तागा ही नहीं निकलता या यदि निकलता है, तो उलझकर रह जाता है। (फिर जुलाहे को झुंझलाहट क्यों न हो?) कबीर कहता है कि ऐ पगली! (बेचारी) तू यह सारा पसारा छोड़कर जीवन बिता। यहां कबीर के एक 'हाइकू' का नमूना भी पेश है :

*कबीर कुकरू राम को मुतीआ मेरा नाउ।*
*गले हमारे जेवरी जह खिंचै तह जाउ।।*

कबीर का संदेश क्या है, उनके अनुसार यथार्थ अखंड और अविभाज्य है। जीवात्मा भी इसी का अंग है। इस यथार्थ को ईश्वर, अल्लाह, ब्रह्म या राम कुछ भी कहा जा सकता है। इस यथार्थ के एकत्व में जो विभाजन और परिवर्तन दिखाई देता है वह माया है, पर उसी पर इच्छाएं और इंद्रिय सुख मनुष्य को केंद्रित रखते हैं। ये इच्छाएं और सुख 'अलख निरंजन' अथवा अदृश्य विशुद्ध यथार्थ से जीवात्मा के मिलन में बाधक हैं। यह मिलन शास्त्रों के शुष्क ज्ञान या कर्मकांड से प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि राम से भक्तिभाव की लौ न लगाई जाए। इसके लिए माया के आवरण को भेदकर एक ही राम में ध्यान लगाया जाए और शेष को मिथ्या और हानिकारक समझकर छोड़ दिया जाए। इस दृष्टिकोण से जाति-व्यवस्था और अन्य अनेक धार्मिक कर्मकांड और अंधविश्वास आलोचना के पात्र और त्याज्य हैं। कबीर की आध्यात्मिक सोद्देश्यता व्यक्तिमूलक मोक्ष पर केंद्रित है, लेकिन इसमें सर्वसाधारण के लिए भी मंगलकारी संदेश है जो उन्हें जीवहत्या, जातिगत भेदभाव और निरर्थक अंधविश्वासों और कर्मकांडों से दूर रहने को कहता है जिससे सामाजिक शांति और प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो।

कबीर का इंद्रिय निग्रह 'मृग की भांति जंगल में घूमने वाले जोगी' के समान नहीं है। शरीर की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति को वे भक्ति-साधना में बाधक नहीं समझते थे, परंतु यौन संबंधों के बारे में उनके विचार नकारात्मक थे। कभी-कभी उन्होंने श्रृंगार रस के संत कवियों के समान अपने को राम की प्रेयसी मानकर राम के साथ सोने के रूपक का प्रयोग किया है, पर ऐसे उद्धरण अपेक्षाकृत बहुत कम हैं।

फिर भी कबीर की शिक्षा और उनके जीवन में इस बिंदु पर विरोधाभास है।

उन्होंने दो शादियां की थीं और उनके पुत्र-पुत्री भी थे। उनकी दूसरी पत्नी धनिया या रमजनिया सुंदर और सुलक्षणा थी जिससे वे प्रेम करते थे, पर डा. रामकुमार वर्मा के अनुसार वह संभवतः कोई वेश्या रही हो। इसी प्रकार नारी जाति के प्रति उनके विचार पुरुष प्रधान समाज की परंपरा के अनुसार ही हैं। उन्होंने सती-प्रथा का भी समर्थन किया है। खान-पान के मामले में वैष्णव धर्म के अनुयायी लगते है। और मांसाहार के प्रबल विरोधी हैं। लहसुन से भी वे चिढ़ते थे।

यद्यपि उनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था, पर वैवाहिक संस्था और यौन संबंधों के दमन और नियंत्रण के वे समर्थक हैं। वे अमीर और गरीब की लड़ाई के मार्क्सवादी सिद्धांत में भी आस्था नहीं रखते थे और एक जगह तो उन्होंने अमीर और गरीब को भाई बताया है। परंतु साथ ही कबीर में सांप्रदायिक एकता और संदेश स्पष्ट और प्रखर है। वे हिंदू और मुसलमान को एक मानते थे।

कबीर के रहस्यवाद को 'यथार्थवादी' न केवल दार्शनिक स्तर पर, अपितु काव्य के स्तर पर भी कहा जा सकता है। यह 'ऐंद्रिक' यथार्थ और भावात्मक रहस्यवाद उनकी कविता का प्राण है। भावात्मक रहस्यवाद उनकी सतगुरु में आस्था द्वारा परिलक्षित होता है, यद्यपि उन्होंने व्यक्ति विशेष के रूप में किसी को अपना गुरु माना नहीं लगता। इसके विपरीत नकली गुरु के खतरे से उन्होंने लोगों को बार-बार आगाह किया है। कुल मिलाकर सही ज्ञान निरंजन की सीधी अनुभूति में ही निहित है, परंतु स्थूल जगत में सतगुरु और रामनाम अंधकार में दीपक का काम करते हैं। यहां संत परंपरा में कबीर का महत्त्व इस बात में है कि रहस्यवाद के यथार्थ में आस्था रखने वाले, बहुत कुछ वैष्णव जैसे परंतु निर्गुण उपासक होकर भी वे कुछ सामाजिक और धार्मिक परंपराओं पर तीक्ष्णतम प्रहार करते हैं जो दूसरे संत कवियों में कम ही दिखाई देगा। भक्ति और सामाजिक आलोचना का यह अद्भुत संगम है।

रहस्यवाद के इंद्रियातीत होने के बावजूद काव्य में यह स्थूल जगत के बिंबों के माध्यम से ही फलता-फूलता है। कबीर के बिंबों को यथार्थवादी और रोजमर्रा के जीवन से सीधा लिया गया है। कुल मिलाकर कबीर एक संदेशवाहक प्रतिबद्ध कवि हैं, लेकिन उनकी प्रतिबद्धता किसी समाज या विचारधारा से न जुड़ी होकर परम यथार्थ या 'अलख निरंजन' के प्रति है, जो मनुष्य की आध्यात्मिक स्वतंत्रता की परिभाषा है।

# कबीर : विद्रोह के मूल्य

## *डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी*

कबीरदास का मुख्य स्वर विद्रोह का है, यद्यपि कबीर मूल्यहीन विद्रोही नहीं हैं। वे संत कवि हैं। संत कवि सदाचरण पर अत्यधिक बल देते थे। उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था पर तीव्र प्रहार करके मनुष्य की उच्चता और नीचता का मानदंड आचरण को माना, वर्ण को नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, "अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत-महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है।"

कबीरदास भक्त कवि थे। मध्यकाल में भक्ति-आंदोलन यद्यपि मूलतः धार्मिक आंदोलन था, किंतु उसका प्रभाव सभी सांस्कृतिक क्षेत्रों पर पड़ा है। प्रत्येक युग की अपनी कोई प्रमुख दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। यह दार्शनिक पृष्ठभूमि उस युग की सभी सांस्कृतिक चेष्टाओं को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करती है। इसीलिए वह भक्त-कवि, भक्त-साधक, समाज-सुधारक कवि और लोकनेता सभी कुछ एक साथ थे। कबीर को ठीक ही समाज-सुधारक भी इसी दृष्टि से कहा जाता है। कबीर ने जो समाज देखा था, उसमें नाना प्रकार की विषमताएं थीं। वर्णाश्रम-व्यवस्था का विकृत रूप सामने था। व्यक्ति की उच्चता और नीचता का मापदंड उसका जन्म-कुल ही रह गया था। ब्राह्मण चाहे जितना दुराचारी हो— सामान्य था, दलित चाहे जितना सदाचारी हो— नीच समझा जाता था। कबीर ने इस आधार को अस्वीकृत किया। उन्होंने व्यक्ति की उच्चता का आधार सदाचार एवं साधना को माना, न कि उसके जन्म-कुल को। कबीर स्वयं उच्च-कुल के न थे। किंतु उन्हें अपने सदाचार एवं भगवत् प्रेम पर स्वाभिमान

था। इसलिए वे उच्च कुलोद्भव पंडितों से तर्क करते समय यह बता देते थे कि तुम्हें मेरी बात पर विश्वास न हो, तो नारद, व्यास का प्रमाण देखो, शुकदेव से जाकर पूछ लो। उन्होंने कहा— पंडितो, तुम दुर्बुद्धि से ग्रस्त हो गए हो जो राम नहीं कहते। वेद-पुराण पढ़कर और उन पर आचरण न करके तुम चंदन का भार ढोने वाले गधे बन गए हो। वेद पढ़ने का फल तो यह होना चाहिए कि व्यक्ति सब में राम को देखे, जन्म-मरण के बंधन से छूट जाए, सफल-काम हो जाए। तुम यज्ञ में पशुओं की हिंसा करते हो और उसे धर्म कहते हों यदि यह धर्म है तो अधर्म कहां है ? तुम अपने को मुनिजन समझ बैठे हो। अगर तुम मुनिजन हो तो 'कसाई' किसे कहा जाए :

*पांडे कौन कुमति तोहि लागी*
*तू राम न जपहि अभागी।*
*वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा।*
*राम नाम तत समझत नाह , अंत पड़ै मुखि छारा।।*
*वेद पढ्या का यहु फल पांडे, सब घट देखें रामा।*
*जन्म मरन थैं तौ तूं छूटै सुफल होहि सब कामा।।*
*जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहौ है भाई।*
*आपन तौ मुनि जन है बैठे का सनि कहौ कसाई।।*
*नारद कहै व्यास मौं भाषै, सुखदेव पूछौ जाई।*

कबीर का मत था कि मनुष्य मात्र समान हैं। उच्च कुलाभिमानी ब्राह्मणों को अकाट्य तर्क देते हुए उन्होंने कहा— जिस तरह और लोग इस जगत में आते हैं, उसी तरह तुम भी आते हो। अन्यों से तुम श्रेष्ठ होते तो अन्य विधि से उत्पन्न होते :

*जो ब्राह्मण तुम ब्म्हनी का जाया।*
*और राह तें काहे न आया।।*

कबीर ने हिंदू धर्माधिकारियों की तरह इस्लामी धर्माधिकारियों— मुल्लाओं,

काजियों को भी आलोच्य बनाया है। उन्होंने मुल्ला से कहा— तुम तो खुदा को हाजिर-नाजिर (सर्वत्र उपस्थित और सर्वदर्शी) कहते हो, फिर कंकड़-पत्थर की मस्जिद बनाकर, उस पर चढ़कर बांग क्यों देते हो, क्या खुदा बहरा हो गया है ?

*कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।*
*ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।*

कबीर ने मुल्ला को भी अपनी साधना में दीक्षित होने का निमंत्रण दिया— मुल्ला, तू ऐसी नमाज पढ़। एक मस्जिद है जिसके दस दरवाजे हैं। मन को मक्का बना, देह को काबा। यह जो जीव बोल रहा है उसी को गुरु (इमाम) बना। तमोगुण को मार दे। भ्रम को दस्तरखान (भोजन जिस वस्त्र पर रखा जाता है) बना। पांचों इंद्रियों का भक्षण करके संतोष धारण कर :

*कहु रे मुल्ला बांग निवाजा। एक मसीति दसौं दरवाजा।*
*मनु करि मका किबला करि देह बोलन हाऊ परम गुरु रही।*
*विसिमिल तामसु भरमु कंदूरीं भखि लै पंचै होई सबूरी।*

कबीर मानव-मात्र को एक समझते थे। वे जात-पांत, कुल-वंश, रक्त, नस्ल के आधार पर मनुष्य और मनुष्य में अंतर करने के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि सबसे पहले अल्लाह ने जो प्रकाश उत्पन्न किया, उसी से समस्त जगत निर्मित हुआ। फिर यहां कौन भला है, कौन मंद है सभी कुदरत के बंदे हैं। स्रष्टा सृष्टि में एवं सृष्टि स्रष्टा में व्याप्त है :

*खालिक खलक, खलक महि खालिक सब घटि रहा समाई।*
*अव्वलि अल्लह नूर उपाया कुदरति के सब बंदे।*
*एक नूर तैं सब जग कीआ कौन भले कौन मंदे।*

कबीरदास बाह्याडंबर, मिथ्याचार एवं कर्मकांड के विरोधी थे। जिस समय कबीर का जन्म हुआ, उस समय इस देश में नाना प्रकार की साधनाएं

प्रचलित थे। बौद्ध धर्म का प्रभाव घट चुका था। उस समय नाथ-सिद्ध साधना का प्रचलन रहा होगा। इसके प्रसिद्ध गुरु गोरखनाथ ने जिस हठयोग-साधना का प्रचार किया था, वह प्रारंभ में शरीर की निर्मलता और संयम पर बहुत बल देती थी। किंतु कालांतर में इसमें भी विकार आ गए थे। सहज साधना के नाम पर कई प्रकार के जुगुप्सित आचारों का समावेश इन पदों में हो गया था। उस समय 'सहज' शब्द बहुत प्रचलित था जिसका आशय था— इंद्रियों को वश में करके चित्त को परम सत्ता में लीन कर देना। किंतु इस 'सहज' का जो रूप सहज-सुख और महासुख की साधना में सामने आया उसका कोई संबंध इंद्रिय-दमन से नहीं था। कबीर ने सहज का जो रूप सामने रखा, वह इस प्रकार था :

*सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।*
*जिन्ह सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।।*
*सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।*
*जिन्ह सहजैं हरि जो मिलै सहज कहीजै साइ।।*

कबीर ने पंडितों-मुल्लाओं के ही कर्म-कांड और बाह्य मिथ्याचार का विरोध नहीं किया, उन्होंने नादी, वेदी, सबदी, मोनी (मौनी) साधकों की व्यर्थता भी घोषित की। उन्होंने नारदी भक्ति की हृदय-साधना पर जोर दिया:

*नादी बेदी सबदी मोनी जम कै पटै लिखाया*
*भगति नारदी हिदै न आई काछि कूछि तनु दीनां।*

कबीर ने इस भक्ति या हृदय-साधना को ही परम वरेण्य माना है। इसके चलते कबीर मानवतावादी ही नहीं, सर्वात्मवादी हो उठते हैं। भक्ति धर्म को लोक-हृदय से संयुक्त कर देती है। इसलिए कबीर शोषण, अत्याचार और पीड़ा के प्रत्येक क्षेत्र में अपना विरोधी स्वर मुखर करते हैं। उनकी करुणा उन मूक पशुओं के प्रति भी प्रकट होती है जिनका मांसाहार किया जाता है। मांस खाने वाले मुसलमानों और शाक्तों दोनों की भर्त्सना कबीरदास ने की है :

*बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।*
*जो नर बकरी खात हैं उनका कवन हवाल।।*

तुम सभी को एक कहते हो, फिर भी पशुओं को अन्य समझकर मारते हो। हक-हक (सत्य, सत्य) बोलते हो, फिर भी कुक्कुट और बकरी मारते हो। साईं को सभी जीव प्यारे हैं। किसके बोलने से तुम्हारा उद्धार होगा :

*सम घटि एक एक करि लेखै भी दूजा करि मारै*
*कुकड़ी मारै बकरी मारै हक्क-हक्क करि बोलै*
*सबै जीव साईं के प्यारे उबरहुगे किस बोले।*

शाक्तों की तो कबीरदास ने घोर निंदा की है। वैष्णव चांडाल अच्छा है, किंतु शाक्त ब्राह्मण नहीं :

*साकत बांमण मति मिलै बैसनों मिलै चंडाल ।*

कबीरदास की सामाजिक चेतना को परखने के दो साधन हैं। एक तो वे सामाजिक विषय, जिन पर उन्होंने खुले तौर पर अपने विचार प्रकट किए हैं, जैसे कि वर्णाश्रम-व्यवस्था, कर्मकांड आदि। दूसरा साधन यह है कि हम उनकी रचनात्मकता में घुले-मिले उन उपकरणों पर विचार करते हुए निष्कर्ष निकाले। जिनके सहारे उन्होंने अपना काव्य-संसार निर्मित किया है। कवि की विचारधारा एवं जीवन-दृष्टि इसी संसार में अपनी काव्य-सामग्री एकत्र करती है। सर्जनात्मक साहित्य की विशेषता यह होती है कि वह शब्दों के माध्यम से चित्रण करती है। चित्रण करने के लिए वह ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिन्हें सामान्य श्रोता और पाठक इंद्रिय-बोध के सहारे ग्रहण कर सकें। इस प्रक्रिया में रचनाकार की जीवन-दृष्टि और मूल्य अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। कवि जिन शब्दों का चयन करता है, जो सादृश्य-विधान खड़ा करता है, वह उसकी चेतना का रूप प्रकट कर देता है। चित्रण में प्रस्तुत दृश्य की विषमता स्वतः सिमट आती है। इसलिए कहा गया है कि साहित्य मूलतः जनवादी प्रक्रिया है।

कबीरदास पर अद्वैत, हठयोग आदि का गहरा प्रभाव था। वे 'माया' की भर्त्सना करते हैं। कबीर का कहना है कि माया से कोई नहीं बचता। बडे-बडे पंडित, ज्ञानी, ध्यानी भी माया के वशीभूत हैं। ध्यातव्य यह है कि माया को कबीरदास प्रायः 'कनक' और 'कामिनी' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'कनक' स्वर्ण अर्थात्

धन-दौलत और कामिनी नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण है।

कबीरदास धन जोड़ने की माया के तीव्र विरोधी हैं। वे उतना ही धन चाहते हैं जितना कि कुटुंब पालने के लिए पर्याप्त हो। स्वयं पेट भर जाए और अभ्यागत साधु-अतिथि भी भूखा न रहे :

*साईं इतना दीजिए जामें कुटुंब समाय*
*मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय।*

जो व्यक्ति अधिक धन कमाने के चक्कर में पड़कर राम को भूल जाता है, वह असफल है। तन और धन का गर्व करना मूर्खता है। ऐश्वर्यशाली लोग केवल कुछ दिनों तक अपनी नौबत बजवा सकते हैं कि समय पर काम आएगा। लेकिन मृत्यु के बाद वह धन बेकार पड़ा रहता है, उससे कोई काम नहीं चलता :

*चारि दिन अपनी नौबति चलै बजाइ।*
*इतनकु खटिया गड़िले मटिया संगि न कछु लै जाइ।।*

कबीरदास प्रायः धनिकों एवं ऐश्वर्यशालियों को ही काल का भय दिखलाते हैं। यह नहीं कि निर्धन नहीं मरेंगे किंतु कबीरदास काल की सर्वग्रासिता प्रकट करने के प्रसंग में प्रायः शक्तिशाली, धनिकों, ऐश्वर्यशालियों, पंडितों और अन्य सांसारिक दृष्टि से सफल लोगों का ही अधिक उल्लेख करते हैं। इससे प्रकट होता है कि धन, ऐश्वर्य और सांसारिक सफलता उनकी दृष्टि में मूल्यहीन अथवा निरर्थक है। यही नहीं, बल्कि वे धन को 'माया' अर्थात परम साध्य से विमुख करके भगवान से दूर ले जाने वाला बताते हैं। इसी प्रसंग में उस पद का स्मरण कर लेना चाहिए जिसमें कबीरदास ने कहा कि मुझे ऐसे वाणिज्य-व्यापार से क्या लेना-देना, जिसमें मूलधन तो नित्य घटता जाता है और ब्याज नित्य प्रति बढ़ता जाता है। इस लौकिक व्यापार या धन जोड़ने की माया को वे सिद्धि में बाधक मानते हैं।

कबीरदास धन को माया का प्रतीक इसलिए मानते हैं, क्योंकि धन झूठ, फरेब या शोषण से ही इकट्ठा किया जा सकता है। हम देख चुके हैं कि वे परिश्रम

से अर्जित धन-मात्र को बुरा नहीं मानते किंतु ईमानदारी से केवल उतना ही धन आ सकता है जितने में अपना, अपने कुटुंब का पेट भर सके— इससे अधिक धन ईमानदारी से नहीं जुड़ सकता।

कबीरदास जिस युग में उत्पन्न हुए थे वह भारतीय सामंतवाद का उत्कर्ष-काल था। सामंतवाद का आधार छोटे-छोटे हस्त-उद्योग होते थे। कबीरदास जिस जुलाहा जाति में उत्पन्न हुए थे, वह इसी प्रकार की एक हस्तशिल्पी या श्रमजीवी जाति थी। लेकिन सामंतवाद में संपत्ति के साधनों पर अधिकार सामंतों का ही होता है और सबसे अधिक शोषण वही करते हैं। इस व्यवस्था में भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की बहुत दुर्गति होती है। भूस्वामी अपने चाहे जिस हलवाहे या खेतिहर को मार-पीट सकते थे, उनको बेइज्जत कर सकते थे, उनके साथ मनमानी कर सकते थे। कबीरदास ने इस शोषण का वर्णन अपने साहित्य में नहीं किया है। किंतु अपनी साधना का जो रूपक उन्होंने बांधा है और जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसी से पता चलता है कि वे भूमिहीन खेतिहर की पीड़ा को समझते थे। कम से कम ऐसे दृश्य उन्हें प्रभावित करते थे — मालिक! मैं इस गांव में अब नहीं रहूंगा। एक नगर था जिसमें एक जीव था, पांच किसान थे। नैन ने निकट श्रवण और रसना हैं। इंद्रियां कहना नहीं मानतीं। गांव के ठाकुर का खेत कोने पर है (काम करने दूर जाना पड़ता है)। कायस्थ खर्च देता नहीं। जोर-जबर्दस्ती करके खेती करते हैं। सब मिलकर मुझे मारते हैं। खोटा महतो विकट बला है। बुरा दीवान फरियाद नहीं सुनता। एक बांधता है, एक मारता है। धर्मराज ने जब हिसाब मांगा तब उसका भारी कर्जा निकला। पांचों किसान भाग गए। जीव को पकड़कर बांधा गया :

*अब न बसूं इहिं गांइ गुसाईं*
*तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम।।*
*नगर एक तहां जीय धरम हला बसै जु पंच किसानां।*
*नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं इंद्री कह्या न मानैं हो राम।।*
*गाइं कु ठाकुर खेत कुनै पै काइथ खरच न पारै।*

*जोरि जेवरी खेति पसारे, सब मिली मोकौ मारै हो राम।।*
*खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै।*
*बुरौ दिवान दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारै हो राम।।*
*धरमराइ जब लेखा मांग्या बाकी निकसी भार ।*
*पांच किसानौं भाजि गए हैं, जीव धर बांध्यौ पारी हो राम।।*

निस्संदेह, कबीर ने जीव, शरीर और पांच महाभूतों का रूपक बांधा है। किंतु यह भी स्पष्ट है कि वे गांव के कृषक-मजदूर, ठाकुर, कायस्थ, महतो-दीवान, सूद पर पैसा देने वाले (धर्मराज) के पारस्परिक संबंधों से प्रभाव ग्रहण कर रहे हैं। गांवों में वर्गों और वर्णों का जो अंतस्संबंध है उसे देख रहे हैं और कविता में चित्रित कर रहे हैं।

कबीरदास अपने को राम का गुलाम कहते हैं और कहते हैं कि राम मुझे चाहें तो बेच दें। मेरा तन-मन-धन सब राम का है। उन्होंने मुझे बाजार में उतारा है और वे ही ग्राहक हैं :

*मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं,*
*तन मन धन मेरा नाम जी कै ताईं।।*
*आनि कबीरा हाटिं उतारा, सोई गाहक बेचन हारा।।*

इससे प्रकट होता है कि उनके समय में गुलामों का व्यापार इस देश में होता था। असंभव नहीं कि यह प्रथा इस देश में पश्चिमोत्तर सीमांत से आने वाली जातियों के साथ आई हो।

इस विषमता और पीड़ा से उत्पन्न होने वाले धन, ऐश्वर्य एवं शक्ति को कबीरदास माया का प्रतीक मानते हैं। इस पद में वे छत्रपति और राजा को 'मोटे-मोटे' कहकर इस सांसारिक सुख पर डहकने वाले— लुब्ध होने वाले कहते हैं। लेकिन कबीर को यह सुख विष के समान लगता है :

*रे सुख इव मोहि विष भरि लागा,*
*इनि सुख डहके मोटे-मोटे छत्रपति राजा।।*

कबीरदास ने 'कनक' के साथ-साथ 'कामिनी' को भी माया का प्रतीक माना है। प्रायः सभी मध्यकालीन संतों ने 'नारी' को माया का ही रूप माना है; क्योंकि वह अपने आकर्षण के पाश में बांधकर साधक को अपने पथ पर आगे नहीं बढ़ने देती अथवा नाना प्रकार से विचलित कर देती है। कबीर के यहां नारी 'सांसारिकता' का प्रतीक है। इसने सबको खा लिया है। केवल संत ही उससे बच सकते हैं। जोरू जगत की जूठन है। उत्तम लोग उससे अलग ही रहते हैं। जो बीच में हैं, वही उसके पास जाते हैं :

*जोरू जूठनि जगत की भले बुरे का बीच।*
*उत्थम ते अगले रहैं निकटि रहैं ते नीच।।*

इस प्रकार की एक नहीं, अनेक पंक्तियां कबीरदास की रचनाओं में ढूंढी जा सकती हैं। कबीर जैसा सदाचारी और सहृदय कवि नारी को सर्वथा निंदनीय समझे, यह उचित नहीं जंचता। ज्ञात होता है कि कबीर के लिए नारी केवल साधना में बाधक होने के लिए निंदनीय नहीं था। तत्कालीन सामंतों की विलास-वृत्ति के प्रति घृणा का भाव भी कबीर के यहां नारी-निंदा के रूप में प्रकट हुआ है। यह बात कबीर ही नहीं, सभी संत कवियों के विषय में समझनी चाहिए। जायसी आदि सूफी कवि एक नारी को सांसारिकता का प्रतीक मानते हैं तो दूसरी को परमार्थ का। *पद्मावत* में नागमती यदि सांसारिकता का प्रतीक है तो पद्मावती परमार्थ का। यह बात कबीर के यहां भी देखी जा सकती है। कबीर ने निस्संदेह नारी-निंदा की है, उसे माया का रूप कहा है। लेकिन ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि कबीर अधिकांशतः निंदा परनारी की करते हैं। 'कामी नर कौ अंग' के कुछ दोहे इस प्रकार हैं :

*परनारी राता फिरैं चोरी बिढ़ता खाहिं।*
*दिवस चारि सरसा रहै अंति समूला जाहिं।।*
*परनारी के राचणें औगुण है गुण नाहिं।*
*पार समंद में मंछला केता बहि बहि जाहिं।।*
*परनारी परसुंदरी बिरना बचै कोइ।*

*खाता मीठी खांड-सी अति कालि विष होइ।।*

कबीर ने नारी की निंदा कम नहीं की है। फिर भी, हमारा अनुमान है कि वे नारी-मात्र को निंदनीय नहीं मानते रहे होंगे रचनाकारों के वक्तव्यों से अधिक विश्वसनीय उनका चित्रण होता है। कबीर नारी-निंदा इतनी तीव्रता से संभवतः परंपरा-पालन के लिए करते हैं। दूसरी ओर वे अनेक ऐसे रूपक प्रस्तुत करते हैं जिसमें वे अपने को 'नववधु' कहते हैं, 'राम की बहुरिया' कहते हैं, राम को पति कहते हैं, उनके आगमन पर मंगलाचार गाने की बात करते हैं :

*दुलहिन गावहु मंगलाचार।*
*हमारे घर आए राम भरतार।।*

फिर कबीर ने 'कामी नर को अंग' ही नहीं लिखा है, उन्होंने 'निहकर्मी पतिव्रता को अंग' भी रचा है। प्रतिव्रता पति से कहती है— मेरी प्रीति तुझसे है। ऐ अनेक गुणों वाले कंता, मैं किसी और से बोलूं तो मेरे दांत नीले रंग जाएं। तू मेरे नयनों के बीच बस जा। मैं पलकों को ढांप लूं। न तुझे कोई और देखने पाए, न तू किसी अन्य को देख पाए :

*कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं बहु गुणि पाले कंत।*
*जे हंसि बोलों और सों तो नील रंगाऊं दंत।।*
*नैनां अंतर आव तूं ज्यूं हौ नैन झपेउं।*
*नां हौं देखउं और कूंना तुझ देखन देउं।।*

कबीरदास की भाषा का सबसे आकर्षक गुण सरलता और दो-टूकपन है इस दृष्टि से कबीरदास अभिधा से अधिक काम लेते हैं। कबीरदास बातों को घुमा-फिराकर कहने में विश्वास नहीं रखते। यह उनके अगाध आत्मविश्वास और सत्य के प्रति निष्ठा एवं निर्भीकता का परिचायक है। जिस समय कबीरदास रचना कर रहे थे, उस समय संस्कृत में अत्यधिक अलंकृत शैली में रचना हो रही थी। अपभ्रंश साहित्य भी नाना प्रकार की काव्य-रूढ़ियों और जटिल उक्ति-शैलियों से युक्त हो चला था। कबीरदास निर्भीक साधक थे। उन्हें सत्य के मार्ग पर चलते

हुए किसी से कुछ लेना-देना नहीं था। वे यह समझते थे कि सांसारिकता में लिप्त लोग उन्हें बावला समझते हैं। ऐसे लोगों को उन्होंने समझाया:

*सम खलक सयानी मैं बौरा।*

यहां कबीरदास का व्यंग्य अचूक है। वे वस्तुतः सांसारिकता में लिप्त लोगों के जीवन को असफल मानते हैं। वे लौकिक व्यापारियों के कारोबार से अपनी साधना के व्यापार की तुलना करते हुए कहते हैं— मुझे ऐसा व्यापार नहीं करना जिसमें मूलधन घटता जाए और ब्याज बढ़ता जाए। कबीरदास की मुद्रा उस प्रकार है जैसे कोई चतुर व्यक्ति किसी को समझे मूर्ख और संबोधित करे उसे चतुर कहकर।

कबीर की भाषा की सरलता को कभी-कभी उचित महत्व नहीं दिया जाता। जो आलोचक 'सरलता' के महत्व को नहीं समझते, वे कबीर की सरल भाषा में निगूढ़ काव्य-कौशल के उत्कर्ष का उचित महत्व नहीं आंक सकते। कबीर की सरल भाषा अपनी अभिव्यक्ति के लिए बाह्य जगत में से उपयुक्त सादृश्य-विधान चुनकर कम से कम शब्दों में श्रोता एवं पाठक के सामने मार्मिक चित्रण करने में अचूक है। जिस सपाटबयानी को देश-विदेश की आधुनिक आलोचना अत्यधिक महत्व देती है वह हिंदी साहित्य में सबसे अधिक कबीर की भाषा में मौजूद है। उनकी भाषा में भले ही अलंकार न हों, जटिल और दुरूह वर्णन शैली न हों, संस्कृत पदावली और कटा-छंटा शब्द-विन्यास न हो, लेकिन वह सरलता और सक्षमता अवश्य है जो अपने सीधेपन से हृदय पर सीधा आघात करती है। उसका रहस्य यही है कि वह श्रोता और पाठक के परिचित शब्द-संसार के माध्यम से ही ऐसा सजीव और द्वंद्वात्मक चित्र उपस्थित कर देती है जो प्रभाव उत्पन्न करनेमें अमोघ है। काव्यत्व की कसौटी मार्मिक चित्रण है। अन्य सब बातें केवल उपकरण हैं। इन उपकरणों की सहायता के बिना उत्कृष्ट काव्यत्व महान रचनाकार ही ला सकता है। कबीर की एक उक्ति है :

*सुखिया सब संसार है खावै और सोवै।*
*दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै।*

ऊपर से देखने में यह पंक्ति नितांत सरल है। हिंदी में सपाट बयानी का इससे अधिक सटीक उदाहरण ढूंढना दुष्कर है। लेकिन इस उक्ति की गंभीरता अगाध है। सांसारिकता में लिप्त लोग सुखी और संतुष्ट हैं। वे खाते हैं और टांग फैलाकर सोते हैं। यह टांग फैलाकर सोना उनके संतोष का लक्षण नहीं, उनकी अज्ञानता और अमानवीयता का लक्षण है। जिस संसार में इतना दुख, विषमता और अन्याय हों, वहां संतुष्ट होकर सोना पशुता है। इन पंक्तियों में 'जागना' ज्ञान का प्रतीक है। जो जागता है, ज्ञानी है, वह संसार या परिवेश की विषमता से परिचित और द्रवित है। यह संसार उसे शांत नहीं रख सकता। मनुष्य परम सत्ता से कितना अनजान है। परम सत्ता से परिचित न हो पाने की पीड़ा से ग्रस्त मनुष्य न सो सकता है, न संतुष्ट रह सकता है। यहां सांसारिक विषमता और परम ब्रह्म से एकमेक न हो पाने की पीड़ा— दोनों को जागने और रोने की क्रिया व्यक्त कर देती है। इस महान और सनातन मानवीय पीड़ा को कबीरदास बेहद सरल शब्दावली में श्रोताओं और पाठकों के अनुभव का अंग बना देते हैं। यह कबीर की सरल भाषा ही कर सकती थी।

कबीर की यह सपाटबयानी भाषा के स्तर पर एक युगांतकारी भूमिका अदा करती है। कहा जाता है कि पद्य गद्य की अपेक्षा अधिक चुस्त होता है। कबीर की रचनाओं ने हिंदी के वाक्य-गठन को बहुत सघन और गठित किया है। कबीर के पहले; और बाद में भी, कई शताब्दियों तक, हिंदी में कोई पद्य-लेखक ऐसा नहीं हुआ जिसका वाक्य-विन्यास इतना चुस्त हो। कबीर की पंक्तियां हिंदी पद्य की वैचारिकता का सुदृढ़ शिलान्यास करती हैं। कबीर की पंक्तियों का वाक्य-गठन थोड़ा-बहुत केवल तुलसीदास में मिलता है। इसी चुस्त वाक्य-विन्यास के कारण हिंदी गद्य और पद्य इतना सजीव हो सका है।

# निर्गुणमार्गीय कवियों की सामाजिक दृष्टि

*डॉ. रामजन्य शर्मा*

निम्नलिखित अर्धाली का संबंध स्वामी रामानंद के साथ अनायास जुड़ गया था। किंतु निर्गुणमार्गीय संतों ने इस पंक्ति के आशय को मंत्र मानकर अपनाया :

*जाति पांति पूछे नहीं कोई।*
*हरि को भजै सो हरि का होई।।*

इसी प्रकार दादू के शिष्य बखना ने कहा :

*हरि को भजै सो हरि का होई*
*नीच ऊंच अन्तर नहीं कोई।।*

(बखना की बानी, पृ.– 119, 136)

और इसी बात की पुष्टि करते हुए *भक्त पद्धति* में मलूकदास ने कहा :

*हरि को भजै सु हरि कौ होई।*
*हरि को ऊंच नीच नहिं कोई।।*

वस्तुतः तत्कालीन समाज अनेक आंतरिक विषमताओं से ग्रस्त अंधकार की कारा से मुक्त होने के लिए व्याकुल था। भारतवर्ष की बहुसंख्य जनता उन दिनों हिंदू थी, किंतु समाज में हिंदू और मुसलमान दोनों जातियों का समन्वय था। मुसलमानों के आगमन के पहले हिंदू शासक ही संपूर्ण देश के स्वामी थे। इस कालावधि में हिंदुओं की आंतरिक व्यवस्था कुछ चिन्त्य हो गई

थी। वर्णाश्रम व्यवस्था का समाज में विकृत रूप दृष्टिगत होने लगा था। ऊंची जाति के लोगों का सम्मान समाज में बढ़ रहा था और निम्न कही जाने वाली जाति के लोगों में हीन भावना का उदय हो रहा था। ऐसी भयावह और नाजुक परिस्थिति में निर्गुणमार्गीय कवियों ने समाज को नवजीवन प्रदान किया।

वस्तुतः 'निर्गुण' शब्द, अपने पारिभाषिक रूप में सत्वादि गुणों से रहित या उनसे परे समझी जाने वाली किसी ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का बोधक है, जिसे बहुधा परम तत्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि निर्गुणमार्गीय कवियों की भक्ति सगुणोपासना से भिन्न एकेश्वरवाद के किसी अनिश्चित रूप पर आधारित रही है। वह कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था तो कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। इस वर्ग के कवियों में ऊंच-नीच और जात-पांत का भेद नहीं था। वे सबको समान भाव से देखते थे। उनका कहना था कि ईश्वर का दरवाजा सबके लिए खुला है। निर्गुणमार्गीय कवियों में सेन, कबीर, रैदास (रविदास), धर्मदास, गुरु नानक, दादू दयाल, सुंदरदास, मलूकदास, अक्षर अनन्य के नाम उल्लेखनीय हैं। इस मार्ग के प्रधान प्रवर्त्तक कबीर थे। कबीर ने एक ओर तो अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातों को स्वीकारा था, तो दूसरी ओर सूफी फकीरों का प्रभाव भी इन पर कम नहीं था। मुख्य रूप से उन दिनों धर्म में फैले हुए भेदभाव को दूर करना इनका प्रमुख उद्देश्य था। कहते हैं, स्वामी रामानंदजी ने इन्हें जुलाहा (मुसलमान) मानकर अपना शिष्य नहीं बनाया। किंतु अपनी आस्था और विश्वास से इन्हें रामानंदजी का शिष्यत्व प्राप्त हो गया था। वस्तुतः कबीर के जीवन में यह एक असाधारण घटना थी और इस घटना के मूल में जात-पांत विरोधी भावना काम कर रही थी। उन दिनों शासक का संबंध जनता से केवल कर वसूलने तक ही था। मान-मर्यादा का झूठा मोह और आपसी कलह ने केवल हिंदुओं को ही नहीं, संत-समाज को भी प्रभावित किया।

कबीरदास के गुरु स्वामी रामानंद ने तत्कालीन दबे हुए लोगों को रास्ता दिखाया। जो लोग समाज में सिर उठाकर चल नहीं सकते थे, स्वामी जी ने उनके लिए भगवान की दया के द्वार खोल दिए। उन्होंने ईश्वर के समक्ष सबको बराबर बताया। कबीरदास जी ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया।

वस्तुतः कबीरदास जी ने निर्गुण-निराकार ब्रह्म की आराधना का मार्ग अत्यंत सरल बना दिया। उन्होंने प्रेमपूर्ण चिंतन की एक नई धारा प्रचलित की। उन्होंने सारे संसार के लोगों से सब जीवों पर दया और प्रेम का आचरण करने की बात कही। उनके लिए सभी जीव बराबर हैं। इस संदर्भ में उनका कथन है :

*बकरी पाती खात है,*
*ताकी काढ़ी खाल।*
*जो नर बकरी खात है,*
*ताको कवन हवाल।।*

कबीर दास ने समाज में फैले अंधविश्वासों को दूर करने की पूरी चेष्टा की। उन्होंने जम कर हिंदुओं के तीर्थ-व्रत और मुसलमानों के रोजा-नमाज का विरोध किया। कर्मकांड इत्यादि को तो वे पाखंड मानते थे। धर्म उनके लिए एकमात्र सत्य था, किंतु हिंदू-मुसलमान के धर्म में उन्हें कोई अंतर दृष्टिगत नहीं हुआ। दोनों का धर्म एक है, वे मूलतः यही मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने हिंदू और मुसलमान दोनों से अपने को अलग माना। धर्म-सुधार से ही समाज का कल्याण हो सकता है, यही उनका लक्ष्य था। इसीलिए उन्होंने अपनी वाणी को समाज सुधारक के रूप में प्रस्तुत किया। कबीर छुआछूत और जाति-पांति के भेदभाव को अनर्गल प्रलाप मानते थे। छुआछूत का खंडन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा :

*ज्यों तूं बांमन बांमनी जाया।*
*तौ आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।।*
*जौं तू तुरूक तुरकनी जाया।*
*तौ भीतर खतना क्यों न कराया।।*

कुल परिवार की श्रेष्ठता को लक्ष्य करने भी उन्होंने करारा व्यंग्य किया है :

*ऊंच कुल क्या जनमियां जै करणीं ऊंच न होई।*
*सोवन कलस सुरै भरया, साधू निंधा सोई।।*

कबीरदास ने श्रम को बहुत ही महत्त्वपूर्ण बताया है। वे स्वयं भी श्रमजीवी थे, किंतु धन-संपत्ति एकत्र करने की इच्छा के घोर विरोधी थे। इस संदर्भ में उन्होंने कहा है :

*साईं इतना दीजिए,*
*जामें कुटुम्ब समाय।*
*मैं भी भूखा ना रहूं*
*साधु न भूखा जाय।*

कबीरदास जी परम संतोषी वृत्ति के थे। उनका कथन था कि मरने के बाद तो कुछ भी साथ नहीं जाएगा, फिर क्यों धन जोड़ा जाए :

*काहे कू भीत बनाऊं टाटी।*
*का जाणू कहं परिहै माटी।।*
*काहे कूं मंदिर महल चिनाऊं।*
*मूवां पीछे घड़ी एक रहन न पाऊं।।*
*काहे कूं छाऊं ऊंच उचेरा,*
*साढ़े तीन हाथ घर मेरा।*
*कहै कबीर नर गरब न कीजै,*
*जेता तन तैती भुई लीजै।।*

कबीर के काल में 'धर्म' शब्द का प्रयोग सांप्रदायिकता के संदर्भ में होने लगा था। समाज में रूढ़िवादिता अपने चरम सीमा पर थी। कबीरदास इन सबसे परे समाज को एक नई चेतना प्रदान करने में लीन थे। वे लोगों को

अच्छे कार्यों की ओर प्रेरित करते हुए कहते थे :

*कली काल तत्काल है बुरा करौ जिन कोय।*
*अनबावै लोहा दाहिणै, बोवै सुलुणतां होय।।*

किसी का बुरा नहीं करना चाहिए। अच्छे और बुरे का फल शीघ्र मिलता है। बाएं हाथ से बोया हुआ अन्न और दाहिने हाथ से बोया हुआ लोहा, दोनों का परिणाम उसी के अनुसार होगा।

कबीर के अनुसार किसी जाति विशेष के घर जन्म लेने से ही कोई छोटा-बड़ा नहीं हो जाता। उन्होंने कहा :

*हमारे कैसे लोहु तुम्हारे कैसे दूध, तुम्ह कैसे बाम्हण हम कैसे सूद,*
*छौति छौति करता तुम्ह ही जाए, तो गर्भवास काहैं कौ आए।*

ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि शूद्रों की नसों में खून बहता हो और ब्राह्मणों की धमनियों में दूध का संचार हो।

कबीरदास के समय में केवल हिंदू-मुस्लिम का मतभेद नहीं था बल्कि अनेक संप्रदाय आपस में लड़ रहे थे। संन्यासी, योगी, यती, शाक्त, जैन, काजी, शेख सभी एक दूसरे को अपने से छोटा समझते थे। सबका अपना ही मार्ग श्रेष्ठ था। अतः इन दिनों आपसी द्वेष भी चरम सीमा पर पहुंच गया था। कबीर की यह मान्यता थी कि काजी और पंडित धर्म-ग्रंथों के अर्थ को समझ नहीं पाते और व्यर्थ में समय नष्ट करते हैं। इस का उन्होंने बार-बार विरोध किया है। कबीर में अवतारवाद और शास्त्र विहित नियमों के प्रति भी विरोध परिलक्षित होता है। उन्होंने वादों और धर्मों को समझने पर अधिक जोर दिया। वे इन सब विवादों में पड़ने से पहले मौलिक सत्य को समझने पर जोड़ देते थे। वे किसी भी संप्रदाय के संकीर्ण मार्ग से बचने की चेतावनी दिया करते थे। कबीरदास की विचार पद्धति स्वानुभूति पर आधारित थी। अपने ऊपर किए गए प्रयोगों को ही वे सत्य मानते थे। उनका कथन है :

*करत विचार मन ही मन उपजी,*
*ना कहीं गया न आया।*

(कबीर ग्रंथावली, पद- 23)

कबीर भी समाज का कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं निश्चित कर सके थे। इसके मूल में व्यष्टि सुधार की भावना थी। व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है। जब व्यष्टि का सुधार हो जाएगा, समष्टि स्वयं प्रगति के पथ पर होगा। तभी स्वस्थ समाज का निर्माण होगा।

तत्कालीन समाज में धनी-निर्धन का संघर्ष भी उल्लेखनीय है। कबीर ने इस समस्या पर विचार प्रकट करते हुए कहा कि यह भेद केवल ईश्वर की माया है। मनुष्य मूलतः मनुष्य है। अतः हमें किसी बात पर गर्व नहीं करना चाहिए। उन्होंने कहा :

*कबीर कहा गरबियौ काल गहे कर केस।*
*नां जाणौं कहां मारिसी कै घर कै परदेस।।*

वस्तुतः कबीरदास तत्कालीन समाज में नवजागरण लाने की चेष्टा कर रहे थे, जिसके मूल में समन्वय की भावना थी।

कबीरदास 'सत्य' को ही धर्म और ईश्वर मानते थे। अपनी रचनाओं में बार-बार जो 'सतगुरु' का प्रयोग उन्होंने किया है, वह इसकी ओर संकेत करता है। उन्होंने समाज को कपट, वाग्जाल और पाखंड से दूर रहने का संदेश दिया और बताया कि सच्चे दिल और सादगी से ही मनुष्य नैतिक रूप से श्रेष्ठ बन सकता है। उनका अखंड विश्वास था कि जो ईश्वर में अटूट विश्वास रखता है उसकी उपासना को काल खंडित नहीं कर सकता।

कबीर का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य एक दूसरे को तभी समान भाव से देख सकता है, जब वह धर्म, कुल, जाति, शास्त्र और संप्रदाय के बंधन से मुक्त हो।

कबीर भगवद प्रेम को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वे उस विद्वत्ता और ज्ञान को अनावश्यक समझते थे, जिससे मनुष्य जड़ बन जाता है और ईश्वर को भूल जाता है। वे कहते थे :

*पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई।*
*एकै आखर पीव का, पढ़ै सो पंडित होई।।*

कबीर कामी पुरुष को बार-बार सचेत करते हैं। उनका मत है कि कामी पुरुष का लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाता है। परनारी विष के समान है :

*पर नारी पर सुंदरी, बिरला बंचे कोई।*
*खाता मीठी खांड सी, अंति काल विष होई।।*

★ ★ ★ ★

*भगति बिगाड़ी कांमियां इंद्री केरै स्वादि।*
*हीरा खोया हाथ थै, जनम गँवाया बादि।।*

(कबीर ग्रंथावली, कामी नर कौ अंग)

वस्तुतः कबीर ने मानव जीवन की सूक्ष्म बातों का गहन चिंतन-मनन किया था। मन की कटुता का परित्याग कर मनुष्य अपना जीवन सफल बना सकता है। अतः उन्होंने एक दूसरे के मन को जीतने की बात कही :

*ऐसी बांणी बोलिए, मन का आपा खोई।*
*अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होई।।*

(क. ग्रं. उपदेश कौ अंग- 9)

सहनशीलता मनुष्य का सहज गुण-धर्म है। इसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा :

*खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।*
*कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सहै न जाइ।।*

( क. ग्रं. कूसबद कौ अंग)

निगुर्णमार्गीय कवियों में रैदास (रविदास) का नाम उल्लेखनीय है। संत रैदास स्वामी रामानंद के शिष्य थे। कहा जाता है कि वे जाति के चमार थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपनी जाति की ओर विशेष रूप से संकेत किया है :

*कह रैदास खलास चमारा*

रैदास भी काशी के ही रहने वाले थे। रैदास भी निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। अपने पदों में इन्होंने आत्मा और परमात्मा की ओर संकेत किया

है। साधुओं का एक समुदाय जो फर्रुखाबाद और मिर्जापुर में पाया जाता है, रैदास की परंपरा में कहा जाता है, इसकी स्थापना संवत 1600 में हुई। रैदास ने ईश्वर को सबमें व्याप्त माना है :

*थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराइ।*

रैदास खंडन-मंडन की प्रवृत्ति से परे थे। वह आडंबरहीन और विनम्र थे। अपनी रचनाओं में इन्होंने दैन्य भाव व्यक्त किया है। भक्ति संबंधी मत को अभिव्यक्त करते हुए इन्होंने कहा :

*सतजुग सति त्रेता जगि, द्वापर पूजा चार।*
*तीनौ जुग तीनो दृढ़े कलि केवल नाम अधार।।*

रैदास ने सगुण-निर्गुण को एक समान ही माना है। इनकी रचनाओं में तत्कालीन शासन-व्यवस्था की कठोरता और करों की अधिकता की चर्चा है :

*करूं डंडवत चरन पखारूं,*
*तन-मन-धन उन ऊपरि बारूं।*

रैदास ने यह बताया कि धार्मिक अनुभव प्राप्त करने के लिए बुद्धि और हृदय का सहयोग आवश्यक है। उन्होंने ईश्वर से संबंध स्थापित करते हुए अपने को पानी और ईश्वर को चंदन बताया :

*प्रभु जी तुम चंदन हम पानी।*

वस्तुतः रैदास भी कबीर के मत की पुष्टि करते हुए समाज को सचेत रहने और बाह्याडंबरों से दूर रहने की बात कहते थे। रैदास को चमत्कारी संत भी कहा जाता है। किंतु इस बात से उनके सिद्ध संत होने की पुष्टि होती है।

तत्कालीन निर्गुणमार्गीय कवियों में पीपा का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। गागरोन गढ़ के राजा होते हुए भी ईश्वर की भक्ति में उनकी अटूट श्रद्धा थी। पीपा ने पश्चिम में भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने भी कबीर की तरह ही समाज को सतर्क रहने की बात कही। उन्होंने कहा कि यदि कबीर

न होते तो कलियुग में भक्ति रसातल को चली गई होती। उन्होंने सगुण भक्ति को भरमाने वाली भक्ति की संज्ञा दी। पीपा की रचनाओं का संग्रह 'श्री पीपा जी की बानी' नाम से किया गया। इस प्रकार के दो हस्तलिखित संग्रह प्राप्त होते हैं।

कृषक जीवन व्यतीत करते हुए भक्ति और समाज सुधार का कार्य सर्वप्रथम *धन्ना* भगत ने किया। ये जाति के जाट थे और कृषि का कार्य बहुत ही परिश्रम के साथ करते थे। उनके हृदय में सदा ही संतों के प्रति श्रद्धा रहती थी। नामदेव, कबीर, सेन, रैदास आदि से प्रेरणा प्राप्त कर 'धन्ना' भक्त हो गए थे। उन्होंने अपने पदों में ईश्वर में दृढ़ विश्वास रखने की बात कही। उन्होंने कहा कि काम-लाभ के कारण मन ईश्वर से विमुख हो जाता है और उसे भूल जाता है। फिर गुरु की कृपा से ही मार्गदर्शन होता है :

*युगति जानि नहिं हृदय निवासी जलत जाल जम फंद परे।*
*विषु फल रूंचि भरे मन ऐसे परम प्रभु मन बिसरे।।*
*ज्ञान प्रवेश गुरुहिं धन दीया ध्यान मान मन एक भए।*
*प्रेम भगति मानी सुख जान्या तृप्ति अघाने मुकति भए।।*

(गुरु ग्रंथ साहब, पृ. 429)

धर्मदास भी निर्गुणमार्गीय शाखा के एक प्रसिद्ध कवि और कबीरदास के शिष्य थे। उनकी रचनाओं में खंडन-मंडन की अपेक्षा प्रेम तत्व की प्रधानता है।

निर्गुणमार्गीय संत कवियों में गुरु नानक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका जन्म लाहौर के निकट हुआ था। गुरु नानक का मन व्यवसाय में नहीं लगा। वह लोक-पीड़ा से व्याकुल होकर संत हो गए थे। तत्कालीन समाज में मुसलमानों के अत्याचार से बहुत से लोग अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बन गए थे। इन्हीं दिनों कबीर के 'निर्गुण संत मत' का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा और जनजीवन को शांति का आभास हुआ।

गुरु नानक पर कबीर की निर्गुण उपासना का प्रभाव पड़ा। साथ ही गुरु नानक ने भी कबीर के निर्गुण-भक्ति मार्ग का ही अनुसरण किया और

पंजाब में 'सिख संप्रदाय' के आदि गुरु माने गए। गुरु नानक के भजन 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहीत हैं।

नानक के वचनों में, रैदास की सरलता और पवित्रता के साथ अपना गुरु गांभीर्य है, पर कबीर की प्रखरता नहीं। नानक एक सच्चे भक्त और भक्ति के उपदेशक हैं। परंतु उनमें खंडन-मंडन या व्यंग्य-आक्षेप की प्रवृत्ति अत्यंत विरल है। उनकी भक्ति तत्वतः वही है जो कबीर की है, साधना अनुभूति और अभिव्यक्ति उनकी अपनी है।

निर्गुण मार्ग के अन्य संतों में संत लालदास, जिन्होंने लाल पंथ चलाया और संत दादूदयाल, जिन्होंने दादू पंथ चलाया, का नाम उल्लेखनीय है। संत लालदास की कोई रचना अभी तक प्रकाशित नहीं है। संत लालदास का कथन है कि संत को परिश्रम करके जीविका चलानी चाहिए, उसे भिक्षा नहीं मांगनी चाहिए :

*लाल जो भगत भीख न मांगिए, मांगत आवे शरम।*
*घर घर डांटत-दुख है, क्या बादशाह क्या हरम।।*
*लाल जी साधु ऐसी चाहिए, धन कमाके खाय।*
*हिरदै हरि की चाकरी, पर घर कभू न जाय।।*

संत दादूदयाल कबीर और नानक की तरह ही महान संत थे। कहा जाता है कि वह जाति के मुसलमान धुनिया थे। दादू ने कहा कि गर्व छोड़ कर ईश्वर की भक्ति करो और किसी को अपना शत्रु न समझो :

*आपा मेटे हरि भजे, तन मन तजे विकार।*
*निरवैरी सब जीव तों, दादू का मत सार।।*

(दादू की वाणी)

दादू पंथी संत कवियों में रज्जबदास , गरीबदास, बपना, वाजिद, भीषजन, मोहन दास आदि प्रसिद्ध हैं। इन कवियों ने समाज की अनेक बुराइयों की ओर बार-बार संकेत किया है। निर्गुणमार्गीय संत-कवियों की यह परंपरा बहुत तेजी से विकसित हुई। अनेक संतों ने अनेक पंथ और

संप्रदाय भी चलाए। इनमें शंभनाथ का 'विश्नोई संप्रदाय' निरंजनदास का 'निरंजनी संप्रदाय,' बावरी साहिबा का 'बाबरी पंथ, मलूकदास का 'मलूक पंथ', बाबा लाल का 'बाबा लाली संप्रदाय' प्रसिद्ध हैं। संत साईंदास, संत जसनाथ, संत कमाली, शेख फरीद, संत हीरादास की वाणी ने भी जनमानस को झंकृत किया।

निर्गुणमार्गीय संत कवियों की एक परंपरा सूफी संतों के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह परंपरा उत्तरी और दक्षिणी भारत में समान रूप से विकसित हुई। सूफी संतों में कुतबन, जायसी, मंझन, उस्मान, शेख नबी, जनकवि निजामी, मुल्ला वजही, गवासी, मुकीमी आदि प्रसिद्ध संत हुए। इनकी प्रेमाख्यानों वाली रचनाएं बहुत लोकप्रिय हुईं। इन सूफी संत कवियों ने भी जनजीवन को अज्ञान के अंधकार से मुक्ति पाने की बात कही।

# निर्गुण संतकवियों की आध्यात्मिक दृष्टि

## डॉ. वीरेंद्रकुमार बड़सूवाला

निर्गुण' शब्द अपने पारिभाषिक रूप में सत्वादि गुणों से रहित या उनसे परे समझी जाने वाली किसी ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का बोधक है, जिसे बहुधा परमतत्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है। इसके 'संप्रदाय' या 'मार्ग' शब्द के पूर्व आ जाने से उन व्यक्तियों की ओर संकेत करता है, जो उक्त प्रकार की शक्ति में विश्वास करते हों और तदनुसार उन्हीं के समुदाय को 'निर्गुण संप्रदाय' या 'निर्गुण मार्ग' भी सूचित करता है। इसी प्रकार जहां 'संप्रदाय' का अर्थ 'गुरु परंपरागत उपदेश' होगा, वहां निर्गुण संप्रदाय से अभिप्राय उस पद्धति का हो सकता है, जिसमें उक्त प्रकार की सत्ता में आस्था रखने का उपदेश दिया जाता हो। ऐसे लोगों की विचारधारा को 'निर्गुण मत' या 'निर्गुण संत-मत' भी कह दिया जाता है।

'निर्गुण' शब्द *श्वेताश्वतरोपनिषद* (6.11) में उस अद्वितीय देव (परमात्मा) का एक विशेषण बनकर आया है, जो सभी भूतों में अंतर्निहित है, सर्वव्यापी है, सभी कर्मों का अधिष्ठाता है, सबका साथी है, सबको चेतनत्व प्रदान करने वाला तथा निरुपाधि भी है। उसी की ओर संकेत करते हुए गीता में कहा गया है कि उसमें सब इंद्रियों के गुणों का आभास है, पर उसके कोई भी इंद्रिय नहीं है, वह सबसे असंपृक्त अर्थात अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग किया करता है। यह समझ लो कि जो कुछ सात्विक, राजस या तामस पदार्थ हैं, वे सब मुझ से ही हुए हैं, किंतु

वे मुझ में हैं। मैं उन में नहीं हूं। त्रिगुण पदार्थों से मोहित होकर यह सारा संसार इनसे परे के (अर्थात निर्गुण) मुझ अव्यय को नहीं जानता। अतः जो कुछ भी पदार्थ त्रिगुणात्मक रूप में दीख पड़ता है, यह मेरी गुणमयी माया का अंश है। जो परमात्मत्व है उसे 'मायातीत' भी कह सकते हैं। वैदिक *नासदीय सूक्त* में भी यही बात इस प्रकार कही गई है कि जब सृष्टि का आविर्भाव नहीं था, तब न सत था, न असत और न रजस ही था। इस निर्गुण को 'अगुन' या 'गुन अतीत' के रूप में निर्गुण संत कवियों ने उपास्य बताया है।

निर्गुण संत-काव्य के प्रधान प्रवर्तक कबीरदास माने गए। संत-काव्य का वर्णन विषय अधिकांशतः धार्मिक एवं दार्शनिक या आध्यात्मिक ही कहा जा सकता है। उसमें परमात्मत्व की चर्चा आती है, जिसमें उसके वस्तुतः अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय स्वरूप का यथासाध्य परिचय कराया जाता है और उसके साथ जगत एवं जीव के वास्तविक संबंध का वर्णन भी रहता है। ये संत लोग अपनी रचनाओं में प्रायः उस अव्यक्त सत्ता को विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान करते जान पड़ते हैं और 'निर्गुण' को सगुण भगवान की भांति इष्टदेव के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति भक्ति और प्रेम का भाव प्रदर्शित करते हैं। वे उसकी महिमा का गान करते नहीं अघाते और उसे प्राप्त करने की विविध चेष्टाओं के साधनस्वरूप अनेक साधनाओं का उल्लेख करते हैं।

निर्गुण संतकाव्य की रचना का आरंभ ईसा की 12वीं शताब्दी में ही हो गया था। संत परंपरा के प्रथम पथ प्रदर्शक प्रसिद्ध भक्त कवि जयदेव थे, जिन्होंने *आदिग्रंथ* में बाद में संगृहीत पदों की भी रचना की थी। उनके समय से लेकर 16वीं शती के पूर्वार्द्ध तक संत सदना, वेणी त्रिलोचन, नामदेव, रामनंद, सेना नाई, कबीर, पीपा, रैदास, कमाल एवं धन्ना भगत जैसे अनेक संत कवि हुए। इनमें से किसी की भी संपूर्ण रचनाएं अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई हैं। इनमें कम से कम नामदेव, कबीर साहब, रैदास और नानकदेव ऐसे हैं जिनकी रचनाएं प्रचुर मात्रा में मिलती हैं।

निर्गुणमार्गीय संतों की आध्यात्मिक दृष्टि या उनके आध्यात्मिक विचारों का दिग्दर्शन आत्मा, परमात्मा, अनात्मा (माया), संसार, मानव-शरीर, मन आदि बिंदुओं के आधार पर किया जा सकता है। मनुष्य सांसारिक बाह्य भोगों में शांति न पा सका। अतः अनंत सुख स्वरूप सत्ता का शरण या सुख-शांति की उपलब्धि ही समस्त दार्शनिकों का ध्रुव लक्ष्य रहा है। इस मूल तत्व की खोज में जो उफान सर्वप्रथम मानव-मस्तिष्क और भावनाओं में आया, वह एक सर्वोच्च माप की रेखा बन कर श्रुतियों के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। ये श्रुतियां (वेद) आज भी दर्शन की अनादि मूल स्रोत समझी जाती हैं। श्रुतियों के बाद वेदांत का उदय हुआ। यह वेदांत ही ब्रह्म विद्या है।

कबीर आदि निर्गुण संतों ने ब्रह्म विद्या का ग्रहण उपनिषदों या अन्य वैदिक ग्रंथों से प्रत्यक्ष रूप में नहीं किया, परंतु उनके आध्यात्मिक विचार— आत्मा, ब्रह्म और माया एवं संसार का विवेचन अधिकांश में वेदांत-शास्त्र के अनुसार है। कबीर की साखियों में एवं अन्य निर्गुण संतों की बानियों में संगृहीत आध्यात्मिक सिद्धांतों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है — आध्यात्मिक दृष्टि से जगत की सभी वस्तुएं दो वर्गों में रखी जा सकती हैं— (अ) नित्य तत्व, जैसे आत्मा, परमात्मा (ब्रह्म) और (आ) नामरूप जैसे, अनात्मा (दृश्यजगत के विभिन्न पदार्थ)। इनकी मान्यताओं को निम्न रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है :

1. आत्मा संबंधी विचार (साधक)
2. परमात्मा संबंधी विचार (साध्य)
3. अनात्मा संबंधी विचार (बाधाएं)
4. आत्मा-पथ संबंधी विचार (साधना मानसिक)

चेतना-पुंज के स्फुलिंग का नाम जीवन है। जीवन या चेतना का अर्थ है, जड़ देह में दृष्टिगोचर होने वाली प्राणी की हलचल या चेष्टा। यह हलचल या चेष्टा शरीर में आत्मा के कारण प्रादुर्भूत होती है। इन चेष्टाओं का प्रवर्तक शरीर से भिन्न, स्वतंत्र और परे है। कबीर की साखियों में आत्मा के बोधक

शब्दों के तीन रूप हैं— मानव, अन्य जीव और अन्य वस्तु। मानव-रूप दो प्रकार के हैं— स्त्री-रूप, पुरुष-रूप।

स्त्री-रूप (आत्मा)— विशिष्टाद्वैत के अनुसार जो संबंध रश्मि और प्रकाश में है, ज्योत्स्ना और चंद्र में है तथा प्रभा और सूर्य में है, वही संबंध आत्मा (स्त्री) और परमात्मा (पुरुष) में है। निरुपाधिक आत्मा में जो प्रकृति (माया) का प्रगाढ़ आलिंगन है, वही स्त्री-रूप सोपाधिक आत्मा है। शुद्ध चेतन के परिचय के पूर्व और पश्चात जिन प्रमुख अंतर्दशाओं का होना संभव है उनका निरूपण कबीर आदि संतों की रचनाओं में है। कबीर ने स्त्रीरूपिणी आत्मा के चार भेद किए हैं— *कुमारी कन्या, सुंदरी (विवाहिता), विरहिणी और सती।*

(क) *कुमारी कन्या*— जब तक प्रिय (ब्रह्म) से परिचय नहीं होता, आत्मा अपरिचित (कुमारी) ही रहती है, क्योंकि उसका पति तो ब्रह्म ही है। जब उमंगों से भरी उस नारी का पाणिग्रहण होता है, तब एक तड़पन, एक छटपटाहट और एक अधीरता से वह आक्रांत हो जाती है :

*जब लग पीव परचा नहीं, कन्या कुंवारी जांणि।*
*हव लेवा हौसे लिया, मुसकल पड़ी पिछाणी।।*

*(ख) विवाहिता* (सुंदरी)— *इस उपाधि को धारण करने वाली* आत्मा का वर्णन 'परचा कौ अंग, 'निहकर्मी पतिब्रता कौ अंग' और 'सुंदरी कौ अंग' में है। यहां परिचय में मिलन से पूर्व संकोच, मिलन-स्थान, मिलन (*कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सों, बहु गुणियाले कंत*) आदि का उल्लेख है।

(ग) *विरहिणी*—

*कबीरा सूता क्या करे, काहे न देखे जागि।*
*जागा संग तैं बीछुड़्या, ताही के संग लागि।।*

आत्मा और परमात्मा एक साथ थे, सयुजा और सखा थे, सोपाधिक होने के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुड़ गई। यह वियोग मानो आत्मा की

सुप्तावस्था है। जब जागरण होता है, तब आत्मा का पुनः परमात्मा से परिचय होता है और वह उसकी प्राप्ति के लिए छटपटा उठती है। उसकी रात की घड़ियां दुख और रुदन में बीतती हैं, देखें :

*कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हों कंत सुजाण।*
*बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजों पराण।।*

(घ) *सती*– विह्वल आत्मा का ही एक गुण है सतीत्व। सती का हृदय प्रिय के साथ जल मरने को, सती होने को मचल पड़ता है :

*विरहिणी थी तौ क्युं रही, जली न पिब के नालि।*
*रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि।।*

मनुष्य के इस अनुभव ने कि वह किसी व्यापक चेतना का अंश है, पुरुष और स्त्री के आध्यात्मिक संबंध को जन्म दिया है। मध्ययुगीन समाज के नियमों के अनुसार स्त्री प्रेम भिक्षा पाने और पुरुष चरणों में अपनी समस्त भावनाओं को समर्पित करने को लालायित रहती थी। दर्शन में यह रूपक सब प्रकार से समर्थ परमात्मा को पुरुष और उसके आश्रित जगत को स्त्री या उसका प्रकृति स्वरूप मानकर प्रचलित हुआ। इसी कारण कबीर ने कई स्थानों पर अपने को 'रामू की दुलहिन' कहा है। इन संतों की इस भावुक विचारधारा के मूल में वैष्णवों का माधुर्यभाव है। वैष्णवों ने स्वकीया के साथ-साथ परकीया को भी महत्व दिया है, परंतु कबीर केवल स्वकीया-रूप लेकर चले और आध्यात्मिक विवाह का रास-रंग रच डाला।

पुरुष रूप (आत्मा) — इन संतों ने आत्मा को पुरुष का रूपक देकर दो प्रकार के संबंधों की सृष्टि की है– (क) रागात्मक संबंध और (ख) साधारण संबंध।

रागात्मक संबंध– यह संबंध पुत्र और योगी दो रूपों में प्रकट हुआ है :
पुत्र —

*पूत पियारो पिता को, गोहनि लागा धाई।*
*लोभ मिठाई हाथि दै, आपण गया भुलाइ।।*

योगी –

*झल उठी झोली जली, खपरा फूटिम फूट।*
*जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूत।।*

यहां परमात्मा से संभोग के लिए आतुर आत्मा को योगी मानकर उसे समाधिस्थ चित्रित कर दिया गया है।

साधारण संबंध– पुरुष-आत्मा का यह संबंध तीन प्रकार का है– सवार, लुहार और जौहरी।

सवार –

जीवात्मा प्रेम के अश्व पर चढ़कर और ज्ञान का शस्त्र लेकर संसार की विषय-वासनाओं से जूझता है। कबीरदास ने चेतना या आत्मा को सवार मानकर बड़ा सुंदर रूपक बांधा है :

*कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।*
*ग्यान षड़ग गहि, काल सिरि, भली मचाई मार।।*

लुहार –

*धवणि धवंती रहि गई, बुझि गए अंगार।*
*अहरणि रह्या ठमू कड़ा, जब उठि चले लुहार।।*

यहां धौंकनी शरीर है और जीवन अंगार है। आत्मा को कबीर ने लुहार का रूपक दिया है, जो इन सबसे परे है।

जौहरी –

*हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि।*
*जबरे मिलैगा पारिषू, तब हीरा की साटि।।*

अर्थात, जब सापाधिक आत्मा शुद्ध चेतन को परख लेती है तब उसे कबीर जौहरी का पद देते हैं।

संत रैदास के अनुसार जीव (आत्मा) ईश्वर (परमात्मा) से पृथक न होकर उसी का रूप है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरे (जीव) और तेरे (तोही-ईश्वर-ब्रह्म) में कोई अंतर नहीं। मैं और तू मूलतः ठीक उसी प्रकार एक

हैं, जिस प्रकार सोना तथा गहना (आभूषण), जल व उससे उत्पन्न होने वाली तरंग एक ही हैं—

*तोहि मोहि, मोहि तोहि अंतरू कैसा।*
*कनक कटिक, जल तरंग जैसा।।*

(पद 51)

परमात्मा—

निर्गुण संतों की रचनाओं का केंद्र एक ईश्वर ही है। वह कबीर आदि संतों से परे नहीं, बल्कि उन सबके रोम-रोम में रमा हुआ है, उस अभिन्न परमात्मा के परिचय-प्रसंग में इन्होंने स्वानुभूति का आश्रय लेकर विभिन्न मधुर संबंधों की सृष्टि की। इसी कारण इनके साहित्य में एकेश्वरवाद, अद्वैत और द्वैत भाव का संयोग परिलक्षित होता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत के दो मूल तत्व हैं— पुरुष और प्रकृति। पुरुष निर्गुण और प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्वरजतमात्मक) अर्थात सगुण है। पुरुष निर्गुण है और एक है। *गुरु सिष हेरा कौ अंग* में कबीर ने कहा :

*ऐसा कोई न मिलै, सब विधि देई बताइ।*
*सुनि मंडल मैं पुरुषि एक, ताहि रहै त्यो लाइ।।*

गोविंद, हरि, गोपीनाथ, सारंगपानि, मुरारि, रघुनाथ, केशव, गोपाल, कृष्ण, जगदीश, राम, त्रिभुवनपति, शंभु, ब्रह्म, निरंजन, अल्लाह, खुदा, करीम आदि विभिन्न (संप्रदायों के और पौराणिक) नामों को ग्रहण कर इन निर्गुण संतों ने ईश्वर के समस्त नामों के भेद मिटाकर एक अभेद का दर्शन किया— *कबीर यहू तौ एक है, पड़दा दीया भेष।* ब्रह्म के एकत्व का वर्णन करते हुए नानक देव ने स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया :

*साहिबु मेरा एकु है अवरु ना भाई।*

(नानक वाणी, पृ 302)

*साहिबु मेरा एको है, एको है भाई एको है।*

(नानक वाणी, पृ 250)

एक ओंकार (परमात्मा) तो नानक वाणी का बीज मंत्र है जिससे स्पष्ट है कि कबीर के समान नानक एकेश्वरवादी थे। अनपढ़ों में अनेक देवी-देवताओं की उपासना प्रचलित थी। उसका खंडन करने के लिए नानक ने कहा— वह एक ही है। वह सत्य स्वरूप, सब का स्रष्टा, परम समर्थ, अजन्मा, स्वयंभू तथा कालातीत अस्तित्व वाला है। परमात्मा के स्वरूप निर्धारण में गुरु नानक देव के विचार उपनिषदों की विचारधारा से साम्य रखते हैं। जीव परमात्मा से उत्पन्न होते हैं और उन जीवों में परमात्मा का निवास है— *आतम महि रामु, राम महि आतमु*। कबीर के समान ही नानक देव ने यह स्वीकार किया है कि आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है :

(क) *आतमु चीन्हि भये निरंकारी।*
(ख) *जिनी आतमु चीनिया परमातमु सोई।*
(नानक वाणी, पृ. 288)

इन संत कवियों की रचनाओं में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन तीन दृष्टिकोण से किया गया है— दार्शनिक, भावुक और साधारण दृष्टिकोण। इनमें दार्शनिक दृष्टिकोण विचारों को उत्तेजित करता है। भावुक दृष्टिकोण में कल्पना की तीव्रता, कथन की मधुरिमा और पीड़ा की रेखा अंकित होती है। साधारण दृष्टिकोण अमूल्य परमात्मा के मूल्य को आंकना चाहता है।

*दार्शनिक दृष्टिकोण* : ये लोग निर्गुण परमात्मा की अनंतता और सागर-सी विशालता का अनुभव करते हैं। उस अनंत का दिग्दर्शन कराने वाला गुरु था :

(क) *लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार।*
(ख) *बूंद समानी समद मैं सो कत हेरी जाइ।*
(ग) *कबीर देखा एक अंग, महिमा कही न जाइ।*
*तेज पुंज पारस घणीं, नैनूं रहा समाइ।।*
(घ) *जे ओ एक न जांणिआं, तौ बहु जांण्या क्या होइ।*

*एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ।।*

*भावुक दृष्टिकोण*: यहां पति-पत्नी, दोस्त आदि के संबंध चित्रित किए गए :

*कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।*
*जौ हंसि बोलौं और सौं, तौ नील रंगाऊं रंत।।*

*साधारण दृष्टिकोण* : यहां मानव रूप में ब्रह्म को साईं, बनिया, वैद्य आदि के रूप में चित्रित किया गया है :

(क) बनिया रूप में—

*साईं मेरा बाणियां, सहजि करै व्यौपार।*
*बिन डांडी बिन पालड़े, तौले सब संसार।।*

(ख) वैद्य रूप में—

*जहां जरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुनिये कोई।*
*चलि कबीर तिहि देशड़े जहां वैद्य विधाता होई।।*

हीरा, मोती की माला, कसौटी, अमल आदि निर्जीव वस्तुओं के माध्यम से भी इन संतों ने परमात्मा को चित्रित किया है। इनका परमात्मा अविनाशी, अंतर्यामी, घटघटवासी, अविंगत, त्रिभुवनराइ और सृजनहार है। वह देह-विहीन देव है। वह जैसे का तैसा रहता है और अपरिवर्तनशील है। वह रूपातीत, अणोरणीयान महती महीयान— अर्थात छोटा और बड़े से बड़ा है।

*अनात्मा या माया* : निर्गुणमार्गीय संत कवियों के साहित्य में जिस माया या प्रकृति का व्यक्तित्व मिला उसका इतिहास भारतीय दर्शन में *श्वेताश्वरोपनिषद्* से जाना जा सकता है :

*मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।*
*तस्यावयवभूतैस्तु व्यापतं सर्वमिदं जगत्।।*

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 4.10)

अर्थात प्रकृति को तो माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायी (माया का अधिपति)। उसी के अवयवभूत (कार्यकारण संघात) से यह संपूर्ण

जगत व्याप्त है। वास्तव में शास्त्रीय उपपादन (सुविधा) के लिए अनित्य या परिवर्तनशील और नामरूपात्मक दृश्य जगत को, जो इंद्रियों को प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, वेदांतशास्त्र में माया कहा जाता है। शंकराचार्य ने माया के लक्षण देते हुए कहा— इंद्रियों के अज्ञान से मूल ब्रह्म में कल्पित किए हुए नामरूप को ही श्रुति और स्मृति-ग्रंथों में सर्वज्ञ ईश्वर की माया शक्ति अथवा प्रकृति कहते हैं। ये नामरूप सर्वज्ञ परमेश्वर के आत्मभूत से जान पड़ते हैं। संसार के समस्त व्यापार का मूलभूत जो यह सृष्टयत्पत्ति काल का कर्म अथवा माया है, वह ब्रह्म की ही लीला है, परंतु यह प्रवाह से अनादि है। इसका आदि ज्ञात नहीं होता। मायात्मक कर्म प्रारंभ कैसे हुआ, यह कैसे ज्ञात हो ? कर्म शक्ति का कभी नाश नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से इस नामरूपात्मक परंपरा को ही जन्म-मरण का चक्र या संसार कहते हैं। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि इस अनादि कर्म-प्रवाह के नाम ही संसार, प्रकृति, दृश्य, सृष्टि और माया हैं। अतः इस रूप में माया अमर है :

*माया मुई न मन मुवा मरि मरि गया सरीर।*
*आशा त्रिष्णा ना मुई, यौं कह गया कबीर।।*

नानक देव ने ऊंचे स्वर में घोषित किया कि माया का काम भ्रम में डालना, मार्ग से भटकाना और अज्ञान में रखना है— *बाबा माइआ भरमि भुलाई*। महाराष्ट्र के साधु-संतों और हिंदी प्रदेश के संतों ने, जिनमें कबीरदास प्रधान हैं, अद्वैत और मायावाद को स्वीकार करके भी भक्ति का समर्थन किया है, किंतु यह भक्ति अव्यक्त के प्रति थी।

*अनात्म-बंधन* (संसार)— वस्तुतः निर्गुणमार्गी संतों ने ज्ञाननिष्ठ निवृत्तिमार्ग को अपनाया। ज्ञाननिष्ठ निवृत्तिमार्ग में विकारवान अथवा नाशवान नामरूप माया या अनात्म का खंडन करके ही, आत्मतत्व के नित्यत्व की प्रतिष्ठा हो सकती है। आत्म-दर्शन तो संसार के नानात्व को मिथ्या समझ लेने पर ही संभव है। आवागमन के चक्र से छूटने के लिए नानात्व दर्शन की प्रवृत्ति का त्याग आवश्यक है (बृहदारण्यक उपनिषद, चतुर्थ अध्याय)। कबीर आदि संतों ने अनात्म बंधन तोड़ने का उपदेश अपनी रचनाओं में बराबर दिया है। अनात्म

रूपों में फंस कर मनुष्य भगवान की भक्ति से वंचित रहता है। माया, हरि और भक्ति के बीच अंतर बढ़ाती है :

*जाणैं जै हरि कौं भजौं, मो मन मोटी आस।*
*हरि विचि घालै अंतरा, माया बड़ी बिसास।।*

कोई व्यक्ति सांसारिकता से संन्यास लेने मात्र से ही मायापाश से नहीं छूटता। माया तो अंतर की वासना है, जो जीव को सांसारिक कार्यों के लिए उत्तेजित करती रहती है। ज्ञानी-अज्ञानी सभी माया के वश में हैं :

*कबीर माया मोहनी, मोहे जांण सुजांण।*
*भागा भी छूटै नहीं, मरि मरि मारै बांण।।*

माया बड़ी मोहक एवं विषैली होती है और जो निवृत्तिमार्ग की साधना को भग्न कर देती है। इससे समस्त संसार त्रस्त है। जगदीश का स्मरण करने वाले जो संत समाज की रूढ़ियों को तोड़ देते हैं, उन्हें माया साधन रूप में प्राप्त होती है।

यद्यपि शरीर माया का रूप है तो भी माया अमर है और 'रज, वीर्य की कली' शरीर मरणशील है। *कागद केरी नांव री, पाणी केरी गंग,* अर्थात हमारा यह मानव शरीर कागज की नौका और मन गंगा के पानी के रूप में है। कबीर आदि संतों ने संसार को क्षणिक, नश्वर और परिवर्तनशील मानकर दुख के मूल कारण रूप में संसार को अंकित किया है। मनुष्य तो यहां वृक्ष रूपी संसार के नीचे पड़ा मृत्यु की घड़ी की प्रतीक्षा करता है :

*मारया है जो मरैगा, बिन सर थोथी भाल।*
*पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि।।*

सभी संतों ने अपने ज्ञान के प्रभाववश कंचन और कामिनी के त्याग का उपदेश दिया। कामिनी माया का मोहक स्वरूप है। यह रूप-जाल है जिसमें मानव-मन उलझता है तथा ज्ञान, भक्ति और युक्ति का नाश होता है। अनात्म का मिथ्यात्व समझ लेने पर भक्ति का– आत्मसाक्षात्कार का मार्ग सरल हो जाता है।

मानव-शरीर में अंतः तथा बाह्य दो प्रकार के कारण हैं। बाह्य

कारणों में पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। अंतःकरण में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का समावेश है। मन समस्त इंद्रियों का केंद्र और माध्यम है। भारतीय दर्शन में मन की महत्वपूर्ण विवेचना की गई है :

*ममता मन मारि रे, नान्हा करि करि पीस।*
*तब सुख पावैं सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीस।।*

— कबीर

निर्गुण संतों की आध्यात्मिक दृष्टि का सार है अभेद-दर्शन और यह अभेद दर्शन, अद्वैतवाद या मोक्ष मन के संकल्प-विकल्प-शून्य होने पर ही संभव है, क्योंकि यह जो कुछ सांसारिक प्रसार है वह सब मन के आधार से ही है— *माया मुई न मन मुवा, मरि मरि जाये शरीर*। मन में ज्ञेय एवं ज्ञाता का भेद समाप्त होने पर आत्मा ब्रह्म-रूप हो जाता है। कबीर ने ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर मन को गोरख, गोविंद और अवधूता कहा है :

*मन गोरख मन गोविंदौ मन ही औघड़ होइ।*
*जो मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोर।।*

कबीर के समान ही नानक देव ने यह स्वीकार किया है कि आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर जीव स्वयं ब्रह्म हो जाता है :

(क) *आत्तमु चीन्हि भये निरंकारी।*
(ख) *जिनी आतमु चीनिया परमातमु सोई।।*

निर्गुण संतों ने ब्रह्मज्ञानी होने का गौरव पाया। इसके लिए उन्होंने मन को साधा निर्गुण की भक्ति के माध्यम से। मन जब विषयाभास से रहित हो जाता है, चंचल नहीं होता, जब व्यक्ति की बुद्धि निर्मल हो जाती है तो आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है। हृदय के अंदर बुद्धि रूपी दर्पण है। जिस प्रकार दर्पण में रूप, उसी प्रकार निर्मल बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है :

*हिरदा भीतर आरसी, मुख देखणां न जाइ।*
*मुख तो तौपरि देखिए, जे मन की दुविधा जाइ।।*

—कबीर

किंतु यदि बुद्धि रूपी दर्पण निर्मल नहीं है तो आत्म-दर्शन (आत्म-साक्षात्कार) नहीं होगा। बुद्धि पर मल और आवरण पड़ने का कारण मन की संशय-ग्रसित अवस्था है। जब मन संशय रहित और स्थिर हो जाता है, तब बुद्धि में सात्विक ज्ञान का उदय होता है और तब पुरुष को यह ज्ञात होता है कि मैं प्रकृति (अनात्म) से भिन्न हूं। यही आत्मदर्शन है। मन के विशेष प्रशिक्षण के कारण ही इन संतों में निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण उभरा।

संक्षेप में, संतों का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। दार्शनिक दृष्टि से उसे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि कोटियों में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः संतों ने उसे बौद्धिक या तार्किक पद्धति का आधार नहीं प्रदान किया। अतः इस दृष्टि से उसकी उचित व्याख्या भी नहीं हो सकती। कबीर का ब्रह्म न केवल इंद्रियातीत है, अपितु वह तो निर्गुण है और सगुणातीत भी है। वह तो केवल अनुभूति का विषय है।

प्रायः सभी निर्गुण संतों की रचनाओं में चिंतन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद भावना के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद बन जाता है। इसमें द्वैत और अद्वैत दोनों का आभास रहता है। द्वैत की स्थिति विरह की अनुभूति के लिए आवश्यक है और अद्वैत का आभास मिलने की इच्छा का आधार है। इष्ट से विरह की अनुभूति में रहस्यवादी पागल जैसा हो जाता है— *राम वियोगी न जियै, जियै तौ बौरा होय*। पर जब मिलन की वेला उपस्थित होती है, साधक जब अपने साध्य (इष्टदेव) की बांकी झांकी देखने लगता है, तो फिर चुप हो रहता है, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है :

*पार ब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।*
*कहिबैं कूं शोभा नहीं, देख्या ही परवान।*

नानक भी ओंकार का अमृत पीकर मस्त हो गए। तब वे गोविंद (ब्रह्म) में ऐसे लीन हो गए जैसे पानी से पानी मिलकर एकाकार हो जाता है। उस स्थिति को उन्होंने अनिर्वचनीय बताया :

*ताकीआ गलीया कथिया न जाहि।*
*जो सो कहै पिछैं पछुताइ।।*

प्रभु का परिचय, इष्टदेव का साक्षात्कार, प्रियतम का दर्शन कितना आत्मोल्लासकारी है ? अंतर के तार-तार को कितने वेग से झंकृत करने वाला है, इसका वर्णन नहीं हो सकता। इस तेज को सामने उदित हुआ देखकर साधक की आत्मा उससे इतनी अभिभूत हो जाती है कि फिर उसे अपनी पृथक सत्ता का आभास भी नहीं हो पाता। यह आत्मा और परमात्मा के एकीकरण की अंतिम अवस्था है। कबीर आदि निर्गुण संतों ने अपनी सहज प्रज्ञा एवं अनुभूति के आधार पर निर्मित आध्यात्मिक दृष्टि के फलक पर इन सब अवस्थाओं का सम्यक उल्लेख किया है।

# कबीर का युग

## *शिवदानसिंह चौहान*

कबीर मध्ययुग के युग-प्रवर्तक संत और महाकवि हैं। उनका सुदीर्घ जीवन काल पूरी पंद्रहवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभिक उन्नीस वर्षों को घेर लेता है। इस समय तक उत्तर और दक्षिण-भारत के विभिन्न प्रदेशों में मुसलमान सामंतों ने यत्र-तत्र अनेक राज्य स्थापित कर लिए थे। दिल्ली की गद्दी पर लगभग दो सौ वर्षों से मुसलमान सुलतानों का राज्य चला आ रहा था। इस प्रकार तब तक मुसलमान इस देश के ही निवासी बन चुके थे।

इस घटना का केवल भारतीय राजनीति पर ही नहीं, बल्कि समूचे भारतीय जीवन, समाज, कला, संस्कृति और विचारपद्धति पर व्यापक युगांतकारी प्रभाव पड़ा।

देश के कोने-कोने में फैले हुए हिंदू और मुसलमान शासक जाति और धर्म का विचार करके अपने-अपने राज्यों के सीमा-विस्तार के लिए परस्पर लड़ते रहते थे। दिल्ली के सुलतान भी अपने साम्राज्य को सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने या अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए निरंतर युद्धों में ही जूझते रहते थे। ऐसी घटनाएं आए दिन होती रहती थीं। यह सारी अंर्तकलह और अराजकता तो मध्ययुग की विशेषता थी, लेकिन उस युग के काव्य और कला में इस राजनीतिक अव्यवस्था का चित्रण ज्यों-का-त्यों सीधे ढंग से ढूंढ़ना व्यर्थ होगा। बात यह है कि उस युग की सबसे बड़ी वास्तविकता ऊपरी

राजनीतिक उथल-पुथल नहीं है। हिंदू राजाओं को पराजित करके मुसलमान राजाओं का राज्य स्थापित करना ऐसी बड़ी घटना थी कि कविता और कला की प्रवृत्तियों में कोई मौलिक युगांतर पैदा कर देती। ऐसे बाह्य आक्रमण भारत पर बार-बार होते आए थे और आक्रमणकारी किरात, हूण, यवन और शक आदि जातियां यहां आकर बसती भी गई थीं, लेकिन उन्होंने यहां के धर्म-मत और जाति-वर्ण पर आधारित समाज-व्यवस्था को कभी इस तरह नहीं झकझोरा और न समाज में उन प्रगतिशील शक्तियों को ही शक्ति और प्रेरणा दी जो उठकर रूढ़ियों से टकरातीं और दलित-वंचित लोगों को आत्म-गौरव प्रदान कर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करतीं। वे स्वयं अपनी विशेषता खोकर भारतीय समाज में घुल-मिल गईं, परंतु इस बार ऐसा नहीं हुआ था। इस्लाम स्वयं एक सुसंगठित संप्रदाय था। उसके आने से और यहां की अनेक दलित जातियों के धर्म-परिवर्तन से दो धर्मों और संस्कृतियों का संगम तो हुआ, लेकिन यह संगम ऐसा था जिसमें दोनों धाराएं जीवन के हर क्षेत्र और स्तर पर एक-दूसरे से प्रभावित होकर भी अपना वैशिष्ट्य और स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखती आई थीं। इस्लाम के एकेश्वरवाद, सामाजिक न्याय और धार्मिक समानता के सिद्धांतों ने यहां की दलित, जाति-भ्रष्ट, शूद्र जातियों में सहज ही एक नई आशा का संचार किया और एक विराट जन-आंदोलन को जन्म देने में परोक्ष रूप से सहायता भी की। साथ ही उच्च वर्गों और जातियों के उदार मनोशास्त्रज्ञ विद्वानों में भी उसने यह चेतना जगा दी कि पौराणिक मन और जाति-व्यवस्था के बंधन ढीले करने में ही कल्याण है।

मध्यकाल के इतिहास और धार्मिक आंदोलन को समझने के लिए यह याद रखने की बात है कि उन दिनों विभिन्न वर्गों के आर्थिक-सामाजिक संबंधों को – विचार क्षेत्र में धर्म-व्यवस्था ही व्यक्त और प्रतिबिंबित करती थी, क्योंकि धर्म ही मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापारों का नियमन करता था– यही तब के सामंती समाज का स्वीकृत विधान था। सर्व-साधारण की आर्थिक-सामाजिक गुलामी के बंधनों को और कठोर बनाने के लिए विधि-विधान,

तीर्थाटन, स्नान, वेदपाठ, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकांड आदि बाह्याचारों की शृंखला को और जटिल तथा सर्वसाधारण के लिए दुरभिसाध्य और कठोर बनाया जाता था। इसी कारण समाज की निम्न अधिकार-वंचित श्रेणियों की ओर से सामंती आर्थिक-सामाजिक गुलामी पर आक्रमण किया जाता था। इसे यों भी कह सकते हैं कि उस काल में धार्मिक बंधनों को ढीला करने की जो चेष्टाएं होती थीं, वे मूलतः सामंती आर्थिक-सामाजिक गुलामी की जड़ों पर ही कुठाराघात करती थीं। उन दिनों लोकमानस में मनुष्य की मुक्ति का वर्ग-संघर्ष धार्मिक स्तर पर जनता की लोक परंपरा या उच्च वर्गों की शास्त्रीय शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युगचेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के अधिकार की मांग वास्तव में आर्थिक-सामाजिक न्याय की मांग थी। जाति, वर्ग, श्रेणी की भिन्नता के बावजूद भक्तपद प्राप्त करने की मांग उस समय के अमानवीय, अन्यायपूर्ण सामाजिक-संबंधों के मानवीकरण की और उन बनावटी तथा ऊपर से थोपी गई मर्यादाओं को तोड़ने की मांग थी जो विशाल जनसमूह को उन अधिकारों से वंचित रखती है। यही कारण है कि उस काल के तमाम जन-आंदोलनों का बाह्य रूप धार्मिक था, तमाम प्रगतिशील जन-नेता और मनीषी धर्म के नाम पर ही मानव-मुक्ति और मानवमात्र की समानता और एकता पर जोर देते थे और उन तमाम सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, सांप्रदायिक कट्टरताओं, बाह्य प्रचार और कर्मकांडों पर खुलकर आक्रमण करते थे जिनका आश्रय लेकर उच्च वर्ग और उच्च जातियां सर्वसाधारण का शोषण-दोहन करती थीं। यदि इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यपरक दृष्टि से हम देखें तो हमें कबीर के काव्य में अपने युग की सभी मूलभूत समस्याओं का अत्यंत मार्मिक और यथार्थ चित्रण मिलेगा।

कबीर के युग चित्रण को गहराई से समझने के लिए उन धार्मिक आंदोलनों को जानने-समझने की भी जरूरत है जो कबीर से पहले और कबीर के समय में लोकमानस को आलोड़ित कर रहे थे, जिनकी परंपराएं बन चुकी थीं और जिनको स्वीकार करके भी कबीर ने जिनसे विच्छेद किया

था और स्वयं एक नई परंपरा गढ़ कर भारतीय चिंतनधारा में एक युगांतर उपस्थित किया था।

उन दिनों की विक्षुब्ध परिस्थिति में सत्ताधारी उच्च वर्गों और उच्च जातियों के अंदर प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्होंने भी संघबद्ध इस्लाम का मुकाबला करने के लिए देश में फैले हुए विभिन्न मत-मतांतरों को संघबद्ध करने की कोशिश की। उस समय यहां ब्रह्मवादी, कर्मकांडी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त आदि अनेक मत प्रचलित थे जो स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार आदि अनेक आधार पर संगठित थे। स्मार्त पंडितों ने शास्त्रीय वचनों के आधार पर एक सर्वसम्मत मत निकालने की कोशिश की और शास्त्र-वाक्यों की छानबीन करके एक आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर करने के लिए निबंध-ग्रंथों की रचना की। वस्तुतः इन निबंध-ग्रंथों की आचार-प्रवणता उच्च जाति के हिंदुओं को ही संघबद्ध कर सकती थी, क्योंकि तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परंपरा ही उनकी केंद्रबिंदु थी और मूलतः उनका लक्ष्य अंत्यजों और निम्न श्रेणियों के प्रति सामाजिक रूप में वर्जनशील रहकर उच्च जाति के हिंदुओं को और भी अधिक हिंदू बनाना था। सिद्ध, जोगी और संत कवि इन आचार-प्रवण संकीर्ण मतवाद पर लगातार आक्रमण करते रहे, क्योंकि इस प्रकार की संघबद्धता से जनता का हित-साधन नहीं होता था।

इसके विपरीत, मुसलमानों के प्रारंभिक आक्रमणों के समय से ही पूर्व और उत्तर भारत में निम्न वर्ग की जातियों की ओर से विद्रोह का झंडा लहराया जाने लगा था। बिहार में बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त होते ही वज्रयान-संप्रदाय के रूप में बौद्ध तांत्रिक या सिद्धों का प्रभाव बढ़ा जो अधिकतर समाज की उपेक्षित और निम्न श्रेणियों से आते थे। बिहार से लेकर बंगाल और असम तक इन 'चौरासी सिद्धों' का जनसाधारण पर अनन्य प्रभाव था। सिद्ध और योगी-संप्रदाय में, जिसमें सबसे प्रमुख गोरखनाथ हैं और जिनके नाम पर नाथ-संप्रदाय चला, वामाचार रहस्य और गुह्य प्रवृत्तियां प्रमुख थीं तथा और भी अनेक उच्च जातियों द्वारा आरोपित धार्मिक और सामाजिक बंधनों के प्रति निम्न वर्ग के लोगों का अंधा, अनियंत्रित विद्रोह था,

इसमें कोई संदेह नहीं। यही कारण है कि इन सिद्धों और नाथपंथी योगियों ने शास्त्रीय स्मार्त मत को तो ठुकरया ही, साथ ही वे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर आधारित किसी भी दार्शनिक मतवाद को मानने को तैयार न थे। नाथ-संप्रदाय वर्णाश्रम-व्यवस्था पर सीधी चोट करता था। इनकी उपासना ध्यान और ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट करती थी। इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। वे न हिंदू आचारों के कायल थे, न इस्लामी, यद्यपि योगी जाति के लोग कालांतर में मुसलमान हो गए थे। वे हठयोग-साधना, अलौकिक करामातों और चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध थे। इससे यही सिद्ध होता है कि यह विद्रोह मूलतः लक्ष्यहीन, अंध और अनियंत्रित था। साधारण जनता इन सिद्धों और योगियों के प्रति सहज ही आकर्षित होती थी, क्योंकि उसे लगता था कि इनका हठयोग वर्ण-व्यवस्था, पौराणिक धर्म और भाग्यवाद को चुनौती देता है।

कबीर स्वयं नाथपंथी परंपरा के संत थे, लेकिन उनका विद्रोह विनाशक न था। उन्होंने अन्य धार्मिक आंदोलनों की परंपरा से इस विद्रोह को संबद्ध करके उसे एक जनाकांक्षिक उद्देश्य देकर मानवमात्र के लिए परस्पर मिलन और एकता का मार्ग प्रशस्त किया। धार्मिक आंदोलन की यह दूसरी धारा प्रेम-भक्ति की धारा थी जो दक्षिण से चलकर उत्तर भारत को आप्लुप्त कर रही थी।

सुदूर दक्षिण के आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति विद्यमान थी। इन्हीं लोगों की परंपरा में वैष्णव आचार्य रामानुजाचार्य हुए थे। उन्होंने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जातियों को ऊंचा किया। उनका श्री संप्रदाय मायावाद का विरोधी था। इनकी ही शिष्य-परंपरा में स्वामी रामानंद हुए थे जो कबीर के गुरु थे। वह दक्षिण से उत्तर भारत में आए थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि मध्ययुग के समग्र स्वाधीन चिंतन के गुरु रामानंद ही थे। उनके अनुसार जो भक्ति के पथ में आ गया, उसके लिए वर्णाश्रम का बंधन व्यर्थ है। इस प्रकार सभी भाई-भाई हैं। सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं। उन्होंने देश-भाषा में कविता

लिखी और ब्राह्मण से चांडाल तक को राम-राम का उपदेश दिया। स्वामी रामानंद के बारह शिष्य थे जिनमें रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धना (जाट), सेना (नाई) आदि निम्न जातियों के लोग भी थे।

कबीर के समय में देश में धर्म की एक और धारा प्रवाहित हो रही थी। वह थी सूफी साधना की धारा। सूफी साधक इस्लाम के एकेश्वरवाद से संतुष्ट न थे और भगवान को विशिष्टाद्वैतवादी वेदांतियों की तरह मानते थे। पहले यह साधक पंजाब और सिंध में आकर बसे। फिर धीरे-धीरे उनकी परंपरा सारे भारतवर्ष में फैल गई। ये साधक मुसलमान उलेमाओं की तरह कट्टर और संकीर्ण मतवादी न थे। इसलिए मोईनुद्दीन (1142 ई.), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगंज (1200 ई.), शेख चिश्ती (1291) तथा निजामुद्दीन औलिया (1235 ई.) आदि सूफी साधक समान भाव से हिंदू और मुसलमानों का विश्वास और सम्मान प्राप्त कर सके थे। बाद में इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले लोक-प्रचलित आख्यायिकाओं का आश्रय लेकर जनता तक अपनी बात पहुंचाई। इस प्रकार कबीर के समय में और उनसे पहले देश में धार्मिक आंदोलनों के रूप में जनता का विद्रोह जिन तीन परंपराओं के रूप में व्यक्त हुआ था, कबीर को उन सबको आत्मसात करने का सुयोग मिला था। इसी कारण उनकी वाणी में इतना विशद युग-चित्रण है और इतना अक्खड़पन, सहज भाव, साहस और गहरा व्यंग्य है, जो उन्हें एक युगावतारी व्यक्ति की कोटि में रख देता है।

अपने युग के विराट जन-आंदोलन की इन तीन धाराओं को अपने अंदर आत्मसात करके भी कबीर किसी एक के ही नहीं बने। वह एक ऐसी युग-संधि के काल में पैदा हुए थे जिसमें हिंदू और मुसलमान जातियों के उच्च वर्गों में एक-दूसरे के प्रति चाहे जितनी असहिष्णुता क्यों न रही हो, लेकिन निम्न वर्ग और छोटी कही जाने वाली जातियों में परस्पर एक-दूसरे के निकट आने की और मिल-जुल कर रहने की भावना बलवती होती जा रही थी और युग की आवश्यकता यह थी कि कोई सर्वसाधारण के अनियंत्रित विक्षोभ और विद्रोह को एक सरल और सीधा मार्ग दिखा सके। कबीर ने निर्गुण प्रेमभक्ति

का मार्ग लोगों को दिखाया और उन्होंने प्रेम को ही साध्य और साधन दोनों माना :

*पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।*
*ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय।।*

भगवतप्रेम के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए जहां एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले, उन्होंने जातिगत, वंशगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत और शास्त्रगत विशेषताओं के फैले हुए जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिए एक अदम्य साहस के साथ उच्च वर्ग की मान्यताओं की तीखी आलोचना की। पंडित और शेख, दोनों, पर उन्होंने समान रूप से व्यंग्य कसे हैं और उनकी इन झकझोर देने वाली व्यंग्योक्तियों में ही उस युग की सारी समस्याएं मूर्त हो जाती हैं।

कबीर के पदों और साखियों में अनेकानेक व्यंग्योक्तियां मिलती हैं। कहीं वह पूछते हैं —*यदि नग्न घूमने से योग मिलता तो वन के सभी मृग मुक्त हो जाते, सिर का मुंडन कराने से यदि मुक्ति मिल जाती तो सिद्धि की ओर भेड़ क्यों नहीं चली गई ?* कहीं वह वर्णाश्रम-व्यवस्था पर व्यंग्य कसते हुए पूछते हैं— *तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र, हम किस प्रकार घृणित रक्त हैं और तुम किस प्रकार पवित्र दूध ?* छुआछूत के विरुद्ध तर्क करते हुए कबीर कहते हैं — *जल में छूत है, थल में छूत है और ग्रहण के अवसर पर किरणों में भी छूत है, जन्म में भी छूत है और फिर मरने में भी छूत है। कह तो रे पण्डित, कौन पवित्र है ? आंखों में भी छूत है, उठते-बैठते तुझे छूत लगती है। यहां तक कि भोजन में भी छूत है। इस प्रकार कर्म-बंधन में फंसने की विधि तो सभी जानते हैं, मुक्त होने की विधि कोई एक ही जानता है।* कबीर कहते हैं कि जो राम को हृदय में विचारते हैं, उन्हें छूत नहीं लगती।

बनारस के संतों का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं :

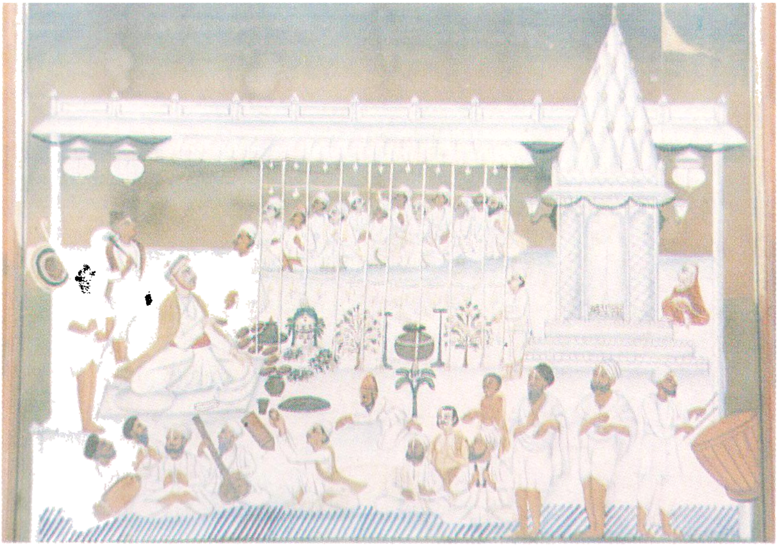
साढ़े तीन-तीन गज की धोती पहने हुए, तिहरे तागे लपेटे हुए, गले में जयमाला डाले हुए और हाथ में माला लिए हुए इन कमबख्तों को हरि के संत

नहीं कहना चाहिए। ये लोग तो बनारस के ठग हैं। मुझे ऐसे संत अच्छे नहीं लगते जो टोकरे भर-भर कर पेड़े गटक जाते हैं। बर्तन मांज कर ऊपर खाना खाते हैं कि किसी की भोजन पर छाया न पड़ जाए और लकड़ी धोकर जलाते हैं।

राज्य की ओर से की गई न्याय-व्यवस्था के आडंबर पर चोट करते हुए कबीर कहते हैं— *काजी, तुमसे ठीक तरह बोलते नहीं बना। हम तो दीन बेचारे ईश्वर के सेवक हैं और तुम्हारे मन को राजसी बातें ही भाती हैं। लेकिन इतना समझ लो कि ईश्वर (धर्म के स्वामी) ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी।* एक और स्थान पर काजी को नसीहत देते हुए कहते हैं : *ऐ पागल, तू दीन से सहानुभूति नहीं रखता, इसलिए तेरा जन्म किसी काम का नहीं है।*

कबीर जनता के कवि थे और जनता के प्रति उनके हृदय में, असीम करुणा और अनुराग का भाव था। उन्हें राजा के घर जाने में आपत्ति थी। एक पद में उन्होंने कहा भी है— *हे राजन, तुम्हारे घर कौन आएगा ? तुम्हारे दूध से अधिक मैंने विदुर के पानी को अमृत माना है। तुम्हारी खीर की तुलना में मैंने उनका साग पाया जिसका गुण गाते-गाते मैंने सारी रात बिता दी।* कबीर का स्वामी आनंदमय विरोध करने वाला है जिसने किसी जाति-बंधन को नहीं माना।

इस प्रकार कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने युग की आचार-प्रवणता और सामाजिक अन्याय और हिंदू-मुसलमानों के वैमनस्य पर लगातार आक्रमण करते हुए जिन मानवीय आदर्शों की स्थापना की, वे निश्चय ही युगानुरूप थे। यह कहकर कि *साईं के सब जीव हैं, कीरी, कुंजर दोय* उन्होंने मानवमात्र की समानता का सिद्धांत प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के लिए सबके समान अधिकार की मांग की। इस विराट जन-आंदोलन के सबसे प्रमुख नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा, उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिए एक जीवंत संदेश भी।



कबीरचौरा मठ के 18वें आचार्य महंत रंगीसाहब के समय की प्रसिद्ध कबीरपंथी पूजा का दृश्य : 18वीं शताब्दी की दुर्लभ पेंटिंग (सौजन्य : कबीर मंदिर, वाराणसी)



कबीर द्वारा प्रयोग किया हुआ जलपात्र
(सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)



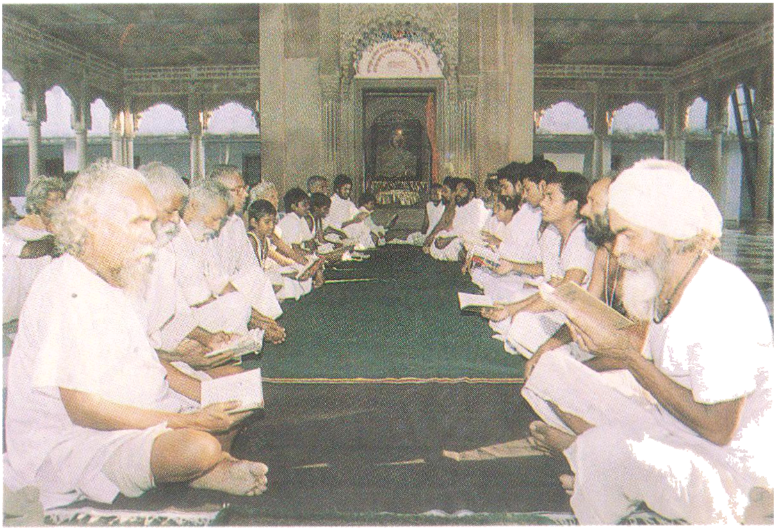
स्वामी रामानंद द्वारा कबीर को प्रदत्त हजार मनकों की माला
(सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)



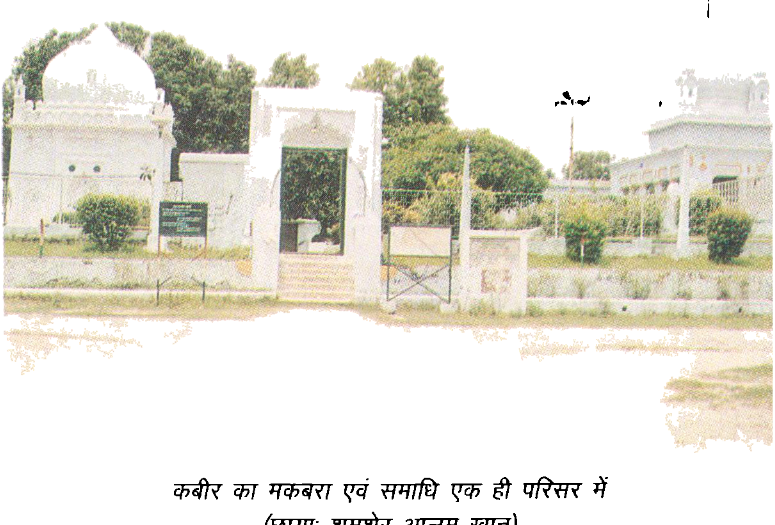
*कबीरचौरा मठ, वाराणसी परिसर स्थित नीरू–नीमा की समाधि*
*(सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)*



*कबीरचौरा मठ, वाराणसी परिसर स्थित 'समाधि मंदिर'*
*(सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)*



*कबीरचौरा मठ, वाराणसी स्थित समाधि मंदिर के समक्ष साधु-संतों द्वारा 'बीजक' का नित्य-पाठ (सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)*



*कबीर का मकबरा एवं समाधि एक ही परिसर में*
*(छाया: शमशेर आलम खान)*

# कबीर का दर्शन

## *ललिताप्रसाद सुकुल*

पुण्यतोता भगीरथी का पावन अंचल आदि काल से ही मनीषी महात्माओं का प्रसिद्ध केंद्र रहा है। राजनीतिक परिस्थितियां कुछ भी रहें, सामाजिक व्यवस्था चाहे जैसी हो, सात्विक प्रेरणा की अजस्र परंपरा आत्मस्थिरता के सहारे निरंतर अपने ही ढंग से और अपने ही नवविकसित रूपों में चलती रहती है। उसे चलना ही चाहिए। सात्विक जिज्ञासा और दार्शनिक चेतना उदात्त मानव की जन्मजात विभूतियां हैं। ये अपने नैसर्गिक रूप में लौकिक परिस्थितियों की मुखापेक्षी कभी नहीं रहतीं।

यह ठीक है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, किंतु यह भी उतना ही ठीक है कि सामाजिक संगठन मनुष्य द्वारा विरचित है। मनुष्य ने समाज का संगठन निश्चय ही इसी निमित्त किया था कि उसके द्वारा उसकी आंतरिक शांतिपिपासा अनायास तृप्त हो सके और वह आत्मविकास के पथ पर निर्विघ्न अग्रसर हो सके। इस संगठन को केवल सुख और सत्ता का माध्यम बना बैठना इसकी अंतर्निहित पवित्रता पर आघात करना है। जहां एक ओर चैतन्य मानव ऊर्ध्वगामी है, वहीं अपने स्थूल रूप के वशीभूत होकर वह अपनी निम्नगामिनी प्रवृत्तियों का भी शिकार हो जाता है। इसी के प्रभाव से समय-समय पर उसने चिरपवित्र सामाजिक संगठन का घोर दुरुपयोग भी किया है, किंतु लौकिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव की भी सीमा है। जहां तक मनुष्य के शारीरिक और मानसिक धर्म का संबंध है, वहां तक उसका समाजगत और लोकगत परिस्थितियों से जकड़ा रहना और प्रभावित

होना अनिवार्य है, किंतु आत्मज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद फिर उसे इस प्रकार के बंधन बांध नहीं पाते।

मध्ययुग के प्रसिद्ध आत्मचिंतकों में कदाचित कबीर और तुलसी ही ऐसे हैं जिनका अध्ययन अब तक अपेक्षाकृत कुछ अधिक हुआ है। प्रसिद्ध एवं स्वीकृत मान्यताओं के अनुसार कबीर की लिखित रचना का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उनके भक्तों द्वारा संकलित समय-समय पर कहे गए उनके वाक्य उनकी वाणियों में सुरक्षित हैं और उन्हीं के आधार पर उनके दृष्टिकोण का अध्ययन करना होगा।

विद्वानों तथा आलोचकों द्वारा अब तक संकलित जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है, उसमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक दीख पड़ता है। क़ोई उन्हें सूफी सिद्ध करने में व्यस्त है तो कोई उन्हें हिंदू-मुस्लिम एकता का ठेकेदार। कोई उन्हें नाथ-संप्रदाय का पिछलग्गू मानता है तो कोई पूर्ण वैष्णव। प्रायः सभी के तर्क निराले हैं। कबीर की वाणियों में जगह-जगह पर कुछ ऐसी उक्तियां बिखरी हुई मिल जाती हैं जो उपयुक्त धारणाओं का आधार बन गई हैं, किंतु किसी मनीषी चिंतक के दार्शनिक विचारों की विवेचना फुटकर उक्तियों के आधार पर बहुत सार्थक नहीं हुआ करती।

भारतीय परंपरा में चैतन्य आत्मजिज्ञासा की तृप्ति के माध्यम को दर्शन की संज्ञा दी गई है, ज्ञान की नहीं, क्योंकि इस रूप में आत्मचिंतन का केंद्र हुआ करता है वह तत्व जो अज्ञात नहीं वरन अज्ञेय है और जिसके लिए कहा गया है : *यतोवा विनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह* अर्थात उस परम तत्व की आत्मानूभुति तो संभव मानी गई है, किंतु ज्ञान नहीं, क्योंकि अपनी असीमता के कारण वह ठहरा अगोचर, अतीन्द्रिय और ज्ञानातीत। अनुभूतिजन्य उसका सहर्ष धर्म उसके उपयुक्त रूपों को अक्षुण्ण रख सकता है। यही सार्थकता है इसके लिए प्रयुक्त 'दर्शन' संज्ञा की।

आत्मा से युक्त प्राणी मन और शरीर से भी युक्त है और इसीलिए वह जीव कहलाता है। शरीर, मन और आत्मा की त्रिविध क्रियाशीलता जीवन कहलाती है। यदि वह क्रियाशीलता शारीरिक व्यापारों तक ही सीमित रह

जाए तो निश्चित ही तमोगुण का प्राधान्य होगा और यदि मनस्तत्व पर केंद्रित हो तो रजोगुण की प्रधानता होगी। इन दोनों से ऊपर उठकर आत्मचैतन्य जीवन को सतोगुणी बनाने में समर्थ होता है और केवल तभी मानव परमानंद प्राप्त कर सकता है।

इस परम फल की प्राप्ति के संस्कारगत अनेक साधन स्थिर हो चुके हैं, किंतु सभी में निर्धारित साधना क्रमागत मानी गई है। शरीर की साधना के बाद ही मनस्तत्व की साधना संभव होती है और इन दोनों के उपरांत आत्मचैतन्य का वरदान मिलता है। इसी क्रम को लक्ष्य करके संसार के प्रायः सभी धर्मों में शारीरिक और मानसिक पवित्रता के नियमों का विधान प्रायः एक सा ही मिलता है। इतना और स्मरण रखना होगा कि दार्शनिक का जीवन अपने वास्तविक रूप में संयमित-अनुशासित होता हुआ भी कभी रूढ़िग्रस्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह क्षेत्र है पूर्ण आत्मविकास का। इसमें रूढ़ियों की पाबंदी सहायक नहीं हो सकती। यही कारण है कि सामाजिक और लौकिक जीवन की रूढ़ियों का अभ्यस्त मानव एक सच्चे दार्शनिक के जीवन की विविधोन्मेषी स्वाधीन प्रवृत्ति को देखकर असमंजस में पड़ जाता है और उसकी बुद्धि चक्कर खाने लगती है।

कबीर का विचारदर्शन इसका सबसे अधिक ज्वलंत उदाहरण है :

*जौ दरसन देख्या चाहिए, तौ दरपन मंजत रहिए।*
*जब दरपन लागे काई, तब दरसन किया न जाई।।*

यहां *दरपन* से कबीर का तात्पर्य है चैतन्य आत्मा से और *दरसन देख्या चाहिए* कह कर कबीर ने परमानंदानुभूति की ओर संकेत किया है। *दर्पण में काई* कह कर भी कबीर ने परमानंदानुभूति की ओर ही संकेत किया है। दर्पण में काई लगने की उक्ति का अर्थ विद्वानों ने माया से लिया है। यह हो सकता है, किंतु इसमें बाधा केवल इतनी ही है कि अर्थ सीमित हो जाता है। अच्छा यह होगा कि इसे दर्पण की सहज अपेक्षित निर्मलता का विपर्यय

माना जाए। कुछ भी सही, यह या इस प्रकार की कबीर क़ी अगणित उक्तियां विशुद्ध रूप से प्रतिपादित कर देती हैं कि वह चरम साधना का लक्ष्य आत्मानुभूति-सिद्ध ही मानते थे, और उनकी इस मान्यता की रीति अपने स्वभाव और धर्म में विशुद्ध परारूपिणी ही थी, अपराजन्य नहीं, क्योंकि चरम साधना थी धर्म– अर्थ और काम के निमित्त नहीं, न शायद मोक्ष के लिए, वरन चिर आनंदानुभूति के लिए। दीदार की पिपासा को व्यक्त करने वाली उनकी कितनी ही उक्तियां यह भी स्पष्ट कर देती हैं कि वह वेदांत के स्थिर सिद्धांत *अहं ब्रह्मास्मि* के भी कायल नहीं थे। ब्रह्म के साथ एकाकार की बात बूंद और सिंधु के माध्यम से उन्होंने भी कही है। एक नहीं अनेक स्थलों पर, किंतु अपनी अंतर्निहित भावना में उनका यह एकाकार शंकर के ब्रह्मवाद से ऊपरी साम्य रखता हुआ भी भिन्न है, क्योंकि कबीर द्वारा दी गई 'प्राप्ति सूचना' से यह भेद स्वतः प्रकाशित हो जाता है। वह कहते हैं :

*हम न मरैंहै संसारा, हमकूं मिल्या जिआवनहारा।*

यहां *जिआवनहारा* से उनका तात्पर्य स्पष्टतः 'परम तत्व' से है जिसके संबंध में *हमकूं मिल्या* कह कर उन्होंने अपना दार्शनिक लक्ष्यबिंदु स्पष्ट कर दिया है। वह *जिआवनहारा* से एकाकार होने की बात नहीं कहते, वरन केवल उसकी प्राप्ति की ही सूचना देते हैं।

उनका यह दार्शनिक लक्ष्यबिंदु, जो मूलतः वेदांत से भिन्न है, सर्वथा उचित ही था, क्योंकि अपनी उक्तियों में बारंबार कबीर हठयोग की क्रियाओं का समर्थन करते हैं। चक्रों और नाड़ियों के उल्लेख उनके यहां जिस परिमाण में और पुष्ट रूप में पाए जाते हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम अपने प्रारंभिक काल में बहुत समय तक उन्होंने अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त सिद्ध-पंथ के रूप में हठयोग की साधना अवश्य थी। एक स्थल पर इसका अकाट्य प्रमाण उनकी इस उक्ति में मिलता है :

*गुड़ करि ज्ञान, ध्यान करि महुआ, माटी मनधारा*
*सुषमन नारी सहज समानी पीवै पवन अहारा*
*अवधू, मेरा मन मतवारा।।*

हठयोग की परंपरा में ब्रह्म के साथ एकाकार का प्रतिपादन मान्य नहीं है, किंतु शंकर का वेदांत अपने साधना पथ में राजयोग का अवलंबन करता है और उसके अनुसार एकाकार का लक्ष्यबिंदु उपयुक्त है। राजयोग और हठयोग मूलतः परमानंदानुभूति के साध्य नहीं, केवल साधन ही हैं। पार्थक्य दोनों में केवल इतना ही है कि एक की प्रणाली 'केंद्रियानुगामिनी' है और दूसरे की 'अनंत विकासानुगामिनी'। बार-बार पर कबीर ने माया का उल्लेख किया है। दार्शनिक परंपराओं के अनुसार मिथ्यावरण का माया के रूप में स्पष्टीकरण शंकर की विचार-प्रणाली के अनुरूप ही है। कबीर द्वारा माया की विशेष आलोचना को देखकर ही कदाचित कबीर के कुछ आलोचकों को यह भ्रम हो गया है कि वह अपने दार्शनिक दृष्टिकोण में शंकर से भी प्रभावित थे, किंतु वास्तविकता इससे भिन्न है। केवल माया शब्द के प्रयोगबाहुल्य के आधार पर ही ऐसा निष्कर्ष निकाल बैठना उचित नहीं।

इससे कौन इंकार कर सकता है कि भारतीय विचारधारा का मध्ययुग शताब्दियों तक शंकर के ब्रह्मवाद से ओत-प्रोत था। सही अर्थों में कितने ब्रह्मवादी रहे होंगे, यह कहना तो कठिन है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि वेदांत-दर्शन के मान्य तत्व और उनसे संबंधित विशिष्ट अर्थ रखने वाली शब्दावली घर-घर कुछ इतनी अधिक प्रचलित हो गई थी कि जिसका मूल्य सस्ती नारेबाजी से अधिक और शायद कुछ नहीं रह गया था। उसी शब्दावली का एक महत्वपूर्ण शब्द यह माया भी था। निरंतर प्रयुक्त होता हुआ यह माया शब्द भी जनसाधारण के हाथों अपने मूल शंकरी अर्थ को छोड़ कर कोसों दूर निकल आया था। शंकरदर्शन का 'माया' शब्द कबीर-दर्शन में अब केवल आकर्षण का प्रतीकमात्र रह गया था। वे कहते हैं :

*माया दीपक पर पतंग भ्रमि-भ्रमि इवै पड़न्त।*
*कहै कबीर गुरु ज्ञान थे एक आप उबरन्त।।*

यहां माया का केवल निषेध ही अभीष्ट नहीं है, वरन उसकी यथेष्ट निन्दा भी प्रतिध्वनित होती है। केवल एक यही उदाहरण नहीं, वरन माया से संबंधित प्रायः सभी स्थलों पर कबीर-दर्शन में माया की कठोर निन्दा की गई है। इसके विपरीत यदि शंकर-दर्शन में माया के उल्लेखों पर विचार किया जाए तो वहां कटु निंदा की ध्वनि कहीं भी नहीं है, वरन संकेत केवल उसकी अवास्तविकता के ज्ञान की ओर ही है। विविध दुर्गुणों में क्रोधजन्य कटुता और निंदा भी मानी गई है। उनका निषेध करने वाले कबीर माया के संबंध में स्वयं उग्र क्यों हो उठते हैं ? कारण स्पष्ट है। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि साधना-पथ में कबीर हठयोग की प्रणाली को अपनाए हुए थे। हठयोग की सारी साधना केंद्रोन्मुखी होने के कारण किसी आकर्षण को सहन नहीं कर सकती, क्योंकि वह उसमें बाधक है। अतः इस अर्थ में कबीर द्वारा प्रयुक्त 'माया' शब्द की शंकर-दर्शन में प्रयुक्त 'माया' की अंतर्भावना का मूल भेद अपने आप स्पष्ट हो जाता है और इसी के आधार पर यह कहना असंगत होगा कि केवल माया शब्द के प्रयोग के नाते कबीर को वेदांत-दर्शन से प्रभावित मान बैठना भ्रामक है।

इसी प्रकार नाथपंथियों द्वारा अपनाई गई योगमार्गीय साधना और कबीर की यौगिक क्रियाओं की स्वीकृति में साम्य देखकर उनका नाता नाथपंथियों से जोड़ बैठना भी कम भ्रमपूर्ण नहीं है। कबीर को नाथपंथ से प्रभावित मानने वाले कबीर की निर्गुणी भावना को अपना आधार मानते हैं। निस्संदेह दोनों ही निर्गुणपंथावलंबी थे। दोनों ही अपनी साधना के लिए योग-मार्ग के अनुगामी थे, किंतु केवल इतने ही साम्य से कबीर पर नाथपंथ की छाप सिद्ध नहीं हो जाती। जहां तक निर्गुणी भावना का संबंध है, उसका आदि नाथपंथ से तो नहीं माना जा सकता। केवल दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं, वरन सगुणोपासनारत और तुलसी जैसे प्रसिद्ध भक्तों के दृष्टिकोण में भी

परोक्ष रूप से यह भावना मौजूद थी। उसका सूत्रपात और प्रचलन भी युगों से चला आता है। इसका अवलंबन कोई भी कर सकता है जिसके संस्कार उनके अनुकूल हों और उसका अवलंबन करने वाले व्यक्ति का निर्गुणोन्मुखी होना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार :

*भाव भगति विस्वास बिन, कटै न संसय सूल।*
*कहै कबीर हरि भगति बिन मुकति नहीं रे मूल।।*

या

*जब लग भाव भगति नहीं करिहौ, तब लग भव सागर क्यूं तरिहौ।*

इस प्रकार की कबीर की उक्तियों के आधार पर बहुत-से आलोचक उन्हें परम वैष्णव सिद्ध करते हैं, और उपर्युक्त उक्तियों में भाव, भक्ति, विश्वास और हरि इत्यादि का उल्लेख देख कर ही उन्हें कबीर के वैष्णव होने का भ्रम हो जाता है। निस्संदेह ऊपरी तौर पर ये प्रयोग वैष्णवी सिद्धांत के द्योतक हैं, किंतु कबीर की निष्पक्ष आलोचना तभी संभव होगी जब यह देख लिया जाए कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने वैष्णवी सिद्धांत के स्थिर अर्थों में किया है या किन्हीं दूसरे अर्थों में। इसका निर्णय कठिन नहीं है। कबीर स्वयं कहते हैं

*सालिग्राम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ी मया नर दूजा।*
*ठाकुर लै पाटै पौढ़ावा, भोग लगाइ अरू आपै खावा।*
*सांच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै।।*

इस प्रकार की उक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर साकारोपासना को तो स्वीकार ही नहीं कर सकते थे जिसके बिना वैष्णवी भक्ति असंभव है, किंतु वैष्णव सिद्धांत के प्रचलित शब्दों का प्रयोग उन्होंने सदाचार के विशिष्ट भावनाप्रधान रूप के नाते किया था। हरि या इस प्रकार के अन्य कोई भी शब्द उनके लिए एक ही इष्ट के द्योतक थे अर्थात 'राम' जिनके विषय में वह स्पष्ट करते हैं :

*तेई नूर थै सब जग किया कौन भला कौन मंदा।*

इस प्रकार की उक्तियों में उनके सर्वव्यापी इष्ट राम की घोषणा उनकी उक्तियों में पग-पग पर स्पष्ट मुखरित है।

अंत में कहना यही होगा कि अपनी दार्शनिक चेतना में कबीर परम स्वतंत्र विचारक थे। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति अपने संस्कारों एवं योग्यताओं से युक्त विश्व की एक स्वतंत्र इकाई है और अपनी ही परिधि में भ्रमणशील है। परम सत्ता के अंश से प्रभासित अपने निर्वाण पथ पर अपनी चेतना के इशारे पर उसे अग्रसर होना है। संप्रदाय को, चाहे जो हो और चाहे जैसा, वह एक ढकोसला मानते थे। परम स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ही उनके विचारदर्शन का मूल आधार थी।

# कबीर दर्शन के स्रोत

*डॉ. विष्णुदत्त राकेश*

कबीर मध्यकालीन धर्मसाधनाओं के तत्वदर्शी संत थे। उनकी चिंतनधारा का विश्लेषण करते हुए विद्वानों ने बहुत-सी बातें कही हैं। प्रायः वैदिक, बौद्ध, सिद्ध, सूफी, वैष्णव तथा नाथपंथी विचारों के परिप्रक्ष्य में उनकी चिंतनधारा के बीज खोजे गए हैं। सांख्य-योगधारा के आगमिक अद्वैतवाद पर ध्यान न देकर कभी उन्हें अद्वैत वेदांती सिद्ध किया जाता रहा तो कभी योग वेदांती। रामानंद से संबंधित होने के कारण उन्हें प्रवृत्ति मार्गी भक्त भी बताया गया है। कबीरवाणी के अध्येता विभिन्न उक्तियों से एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षणवाद, शून्यवाद जैसे कई परस्पर विरोधी मतों को सिद्ध कर सकते हैं। पर डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी इस को शुद्ध तांत्रिक मानते हैं। परमतत्व निरूपण, सृष्टि प्रक्रिया, आत्मशुद्धि, सुरतशब्दयोग तथा बिंदुसाधना जैसी चीजें कबीर में वेदांत से नहीं आईं। शांकर अद्वैत के परिभाषित शब्दों का व्यवहार देखकर अथवा विवर्तवाद और प्रतिबिंबवाद के दृष्टांतों को देखकर कबीर को तत्ववाद की दृष्टि से शांकर वेदांती नहीं बताया जा सकता। उनकी भक्ति भी आनंदरूपा स्वरूप-शक्ति ही है जो स्वरूप का आस्वाद लेने के लिए स्वयं से पृथक हुई है। कबीर वस्तुतः परमतत्व को अनुभवगम्य मानते हैं जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने (*कबीर*, पृष्ठ 110) कहा है, अतः उनके आगमिक साधना के संस्कार पथ तत्व को अभयात्मा मान कर उभयातीत स्थिति का खंडन करते हैं। *गोरक्षसिद्धांत* संग्रह में उद्धृत *अवधूत गीता* का साक्ष्य है :

*अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छंति चापरे।*
*समं तत्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।।*

अर्थात अनुभव भेद से उसे अद्वैत, द्वैत की संज्ञा दी जा सकती है। **वस्तुतः** यह कथन वही करते हैं जो समरूप द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व से परिचित नहीं हैं। कबीर इसी चिंतन परंपरा में सोचते हैं। अतः शांकर अद्वैत से उनकी मान्यता मेल नहीं रखती :

*एक कहौं तो है नहीं दोय कहौं तो गारि।*
*है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि ।।*[1]

★ ★ ★

*जस कथियै तस होत नहीं जस है तैसा सोई।*[2]

परमतत्व की साधना बेल की तरह है, कबीर का विचार है कि यह रामभक्ति रूपी बेल गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट है। द्वैत और अद्वैत इस बेल की दो सिराएं हैं। आकाश तक दोनों की पहुंच है पर पहुंच जाने के बाद तो द्वैत और अद्वैत नहीं रहते। दोनों से विलक्षण सम तत्व रहता है, वही साध्य है। यह स्थिति भी अनुभवगम्य है, इसका कथन नहीं हो सकता। गोरखवाणी में इसी आशय का पद मिलता है। नाथ योगी की साधना निरंतर उनके सामने है :

*राम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरखनाथ जांणीं।*
*नाति सरूप न छाया जाकै बिरध करै बिन पांणीं।।*
*बेलड़िया द्वै अणीं पहुंचती गगन पहुंचती सेली।*
*सहज बेलि जब फूलण लागी डाली कूपन मेली।।*[3]

परमतत्व के लिए गगन शब्द का व्यवहार अवधूत परंपरा के प्रभाव के कारण ही हुआ है। गोरख और दत्तात्रेय अवधूत परंपरा के विचारक हैं। संतमत, गोरख और दत्त को परंपरा का प्रवर्तक मानता है अतः कबीर पर दत्त

---

1. हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय–पृष्ठ 107
2. कबीर ग्रंथावली–रमैणी 3–पृष्ठ 230
3. कबीर ग्रंथावली–पद 163

**चिंतन** का प्रभाव स्वीकार करना चाहिए। कबीर के अनन्य भक्त संत **गरीबदास** ने भी संतसाधना के स्रोतों का उल्लेख करते हुए यही बात स्वीकार की है।[1] आत्मा की आकाश रूपता की भावना को सिद्ध परंपरा के साधक आरंभ से स्वीकार करते आ रहे हैं। दत्तात्रेय जी कहते हैं :

*अन्तर्हितश्च स्थिरजंगमेषु,*
*ब्रह्मात्म भावेन समन्वयेन।*
*व्याप्त्या व्यवच्छेदमसंगमात्मनो,*
*मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्।।*

(भागवत 11/7/42)

सिद्ध साधना में यह अवस्था भाव-अभाव विनिर्मुक्त अवस्था कही जाती है। *सहजाम्नाय पंजिका* से अद्वयवज्र की निम्न पंक्तियां उद्‌धृत कर द्विवेदी जी ने जो धारणा व्यक्त की है, वह भागवत भावित है :

*तथा सा॑पिखसमस्वरूपं मनः तस्मिनमनः क्रियते। एवं यः करोति स उत्तम पुरुषः सहजस्वभावे रम्यते क्रीड़त इति यावत्।*[2]

कबीर कभी तो परमतत्व को सत, चित, आनंद रूप बताकर उसका भाव रूप में कथन करते हैं :

*कबीर साथी सो किया जाके सुख दुख नाहिं कोइ।*
*हिलि मिलि ह्वै मघि अरू अंत लौ अविहड़ सदा अभंग।।*
*कबीर उस करता की सेवग तजै न संग।*[3]

और कभी *वृहदारण्यक* (3/8/8) की शैली पर उसका प्रभाव रूप से उल्लेख करते हैं :

---

1. *दत्त कथी गोरखकथी मुखी दे लाया सोध।*
*व्यास कथी भीषम कथी कहैं अठारह बोध। —ग. बा. अनभै कौ अंग — 49*
2. *कबीर*, पृष्ठ 76
3. *कबीर ग्रंथावली, अविहड़ कौ अंग–1,3*

*वेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पापरूपन्यं।*
*ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित विवर्जित स्थूल सुनत्रं।*
*भेष विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित उचमंक रूपं।*
*कहै कबीर तिंहु लोक विवर्जित ऐसा तत्व अनूपं।।*[1]

यह सब उस परम तत्व के त्रैलोक्य विलक्षण रूप का वर्णन करने के लिए है। यह अतद्व्यावृत्ति की सूचनार्थ योजना है। अर्थात वह स्वयं जैसा है, उसका कथन वैसा ही नहीं हो सकता। हो सकता है तो उसका थोड़ा-बहुत आकलन।[2] जैसा कि कहा जा चुका है कबीर आगमिक साधना के संत हैं अतः परमतत्व को शब्द रूप से अभिहित करते हैं। यह सृष्टि शब्द का प्रसाद है— शब्दरूप परमतत्व की खोज साधक को करनी चाहिए :

*शब्द स्वरूपी तें भये किया शब्द सों मेल।*
*शब्द न चीन्हें बावरा फिरि खेल अहेल।*

(बीजक 158)

भर्तृहरि ने वाक्यप्रदीप में *अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदारम्* कहकर परमात्मा को शब्द रूप माना है, जगत उस परवाक का ही विवर्त है :

*व्यक्तौ स्वरूप रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते।*

प्रपंचसार के टीकाकार पद्मपाद ने चेतनतत्व की चतुर्थावस्था को पर प्रणव तथा द्वितीयावस्था को अपर प्रणव कहा है। पहले बीज अंकुर सहभाव के समान शब्दार्थमय सृष्टि बीज की तरह होती है और उनका विकास एक साथ होता है। अतः उसमें क्रम नहीं दिखाया जा सकता है कि कौन पहले हुआ और कौन बाद में। कबीर ने यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है :

*ओं ओंकार लखै जो कोई।*
*सोई लखि मेटणा न होई।।*

(पद 152)

---

1. *कबीर ग्रंथावली–पद–220*
2. *आदै गगना अंतै गगना मधे गगना भाई–पद 44*

*ऊंकारा आदि है मूला।*
*राजा परजा एकहि मूला।।*
(रमैनी 44)

शब्द ब्रह्म ही इस जगत का एकमात्र कारण है। बीज का ही परिणत रूप वृक्ष है और वृक्ष को छोड़कर छाया नहीं रह सकती। इसी तरह ब्रह्म का विवर्तरूप यह जगत है और माया उससे पृथक सत्ता नहीं रखती :

*बीज मद्ध ज्यों वृच्छा दरसै, वृच्छा मद्दे छाया।*
*ज्यों नभ मद्दे सुन्न देखिए सुन्न, अनंत आकारा।।*
*निःअच्छर ते अच्छर तैसे, अच्छर छर विस्तारा।*
*ज्यों रवि मद्दे किरन देखिये, किरन मद्ध परकासा।।*
*परमात्म में जीव ब्रह्म इमि, जीव मद्ध तिमि सांसा।*
*स्वांसा मद्दे सब्द देखिये, अर्थ सब्द के माहीं।।*
*ब्रह्म में जीव मन यों, न्यारा मिला सदा ही।*
*आपहिं वृच्छ बीज अंकूरा, आप फूल फल छाया।।*
*आपहिं सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिवमाया।*[1]

अभिनव गुप्त ने *परात्रिशिंका* में यह बात स्पष्ट कि है जैसे बरगद के बीज में अंकुर, वृक्ष, फूल, फल, छाया आदि समाविष्ट रहते हैं, उसी प्रकार उस परमतत्व में यह सारा विश्व समाया हुआ है। यह जगत उस परमतत्व का आत्मप्रकाश या अभिव्यक्ति है :

*यथा न्यग्रोध बीजस्थः शक्तिरूपौ महाद्रुमः*
*तथा हृदय बीजस्थं जगदेतच्चराचरम*
*का. 24-25*

कबीर भी इसी संदर्भ में सोचते हैं :

---

1. *कबीर : पृष्ठ 236—पद 7*

*जैसे वट का बीज ताहिमें, पत्र फूल फल छाया।*
*काया मद्धे बीज बिराजै, बीजा मद्धे काया।।*[1]

परमतत्त्व का जगत के साथ क्या संबंध है, इसके बारे में वेदांती और आगमिक एक ही दृष्टि से सोचते हैं। एक ही तत्त्व रूप-भेद और नाम-भेद से जगत कहला रहा है। अतः रूप और नाम भेद से भी वह निःशेष कहां हुआ ? समुद्र और समुद्र तरंग या जल और हिम का दृष्टांत मूलतत्त्व और विश्व के बीच का संबंध स्थापित करने के लिए दिया गया है। शांकर अद्वैत में विवर्त और प्रतिबिंबवाद एक साथ माना गया है क्योंकि जगत को कल्पित और अपार बताना वहां मुख्य है। आगमिक जहां विवर्त को शक्ति का निग्रह मानते हैं वहां कर्ता इसे आनंद के लिए लीलासृष्ट करता है। आचार्य वल्लभ आगमिक परंपरा में ही यह सिद्धांत स्वीकार कर इसे अविकृत परिणाम कहते हैं। कबीर आगमिक परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार करते हैं :

*दरियाव की लहर दरयाव है ज़ी।*
*दरियाव और लहर में भिन्न कोयम।।*
*उठे तो नीर है बैठे तो नीर है।*
*कहो जी दूसरा किस तरह होयम्।।*

★ ★ ★

*पाणी ही तें हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।*
*जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहया न जाय।।*

आचार्य अभिनव गुप्त ने यही तथ्य इन शब्दों में व्यक्त किया है :

*तेन बोध महा सिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः।*
*आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्म संघट्ट चित्रताम्।।*

तन्त्रालोक (भा. 2 आ. 3- 102, 103)

---

1. *कबीर पृष्ठ 264 पद 46*

इस निर्माण प्रक्रिया पर विचार करते हुए डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने व्याख्या दी है, "ब्रह्म का पहला विवर्त प्रणव, ऊं अथवा शब्द ब्रह्म है जिसमें पुरुष और प्रकृति, ब्रह्म और माया दोनों समाहित हैं। प्रणव का अव्यक्त स्वरूप बिंदु है और व्यक्त स्वरूप नाद। अव्यक्त रूप में वह गणित के बिंदु के समान है जिसका अस्तित्व तो है पर माप नहीं। इस बात को सब जानते हैं कि रेखागणित के सब आकार बिंदुओं की वृद्धि से ही बनते हैं। नाद अथवा इच्छा या मौज का प्रकंपन ही एक बिंदु को अनेक में परिणत कर विश्व सृजन का कारण होता है। नाद के प्रकंपन के सिमट कर बंद हो जाने पर यह समस्त सृष्टि भी सिमट कर बिंदु में समाविष्ट हो जाती है।"[1]

कबीर ब्रह्म साधना को शब्द साधना कहते हैं :

*शब्द काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा।*
*कहैं कबीर जंह शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा।।*[2]

शब्द रूप ब्रह्म से भेंट करने के लिए कबीर ने सुरति शब्दयोग का सहारा लिया है। सुरति आत्मशक्ति है, चित्तवृत्तियों का अंतर्मुखी प्रवाह है। निरति निर्विकल्पक ध्यान का बोध कराती है। सुरति में तीव्र दर्शन की गति है। वस्तुतः वेदांत की आत्मा ही सुरति है।[3] सुरति का निरति में समा जाना ही साधना की पूर्णता है। अर्थात आत्मा का स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही लक्ष्य है :

*सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।*
*सुरति निरति परचा भया तब खुला स्वंभू द्वार।।*

ब्रह्म के स्वरूप का रहस्योद्घाटन इसी प्रक्रिया से संभव है। निरति का अर्थ निर्विकल्प स्थिति है। अतः उस स्थिति को कबीर ने गगन से उपमित किया है और सुरति को गगन बिहारी पक्षी से :

*पंछि उड़ानी गगन कूं उड़ी चढ़ी असमान।*
*जिहिं सर मंडल भेदिया सो सर लागा बान।।*

बाण से तात्पर्य यहां अग्रदृष्टि से है। एकाग्रता से मंडल भेदने का अर्थ

1. *हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृष्ठ 132*
2. *कबीर : पृष्ठ 268, पद 57*
3. *तंत्र और संत, पृष्ठ 294*

चित्तशक्ति को उन्मुनी अथवा अभ्यांतर करना है। तब अष्टदल कमल के सूची विद्ध द्वार से यह सुरति पक्षी गगन रूपी ब्रह्मांड में पहुंचता है। यहां से वह ऊपर चढ़ती है। शून्यमंडल या भंवर गुहा में घुसकर तब वह शब्द सुनती है। यही शब्द समस्त सृष्टि का मूल है।

जीव की मुक्तावस्था पर भी उन्होंने विचार किया है। मुक्तावस्था में वह विदेहमुक्ति के समर्थक हैं :

*हस न बोलै उन्मनी चंचल मेल्हा मारि।*
*कहै कबीर भीतर भिद्या सद्गुरु के हथियार।।*
*मन लागा उनमन सो उनमन मनहिं बिलग।*
*लूण विलग्गा पाणियां पाणीं लूण बिलग।।*

★ ★ ★

*कहै कबीर मन मनहिं मिलावा, अमर भये मुख सागर पावा।*

यह देह भोगायतन है अतः इसका चिन्मयीकरण आवश्यक है। रसेश्वर दर्शनवादियों की तरह स्थूल को अमर बनाने में जड़ी-बूटी के योग को भी वह आवश्यक मानते हैं। कबीर पर यह प्रभाव नाथ संप्रदाय के काया-योग का ही है :

*कबीर जोगी बनि बस्यां, षणि खाये कंद मूल।*
*ना जाणौं किस जड़ी थैं, अमर भये असथूल।।*

(क. ग्रं, जीवनी कौ अंग)

निज देह की प्राप्ति के लिए कबीर एक और उपाय बताते हैं कि आत्मशक्ति का भेद स्तर पर उतरना बंधन है और अभेद स्तर पर पहुंचना मुक्ति है। अतः बिंदु या जड़ शरीर से नाद अथवा चिन्मय शरीर प्राप्त करना आवश्यक है :

*कबीर सूषिम सुरति का जीवन जाणै जाल।*
*कहै कबीर दूर करि आतम अदिष्टि काल।।*

यहां *आतम अदिष्टि* का तात्पर्य है स्वातंत्र्य शक्ति से अपरिचय।

स्वातंत्र्य शक्ति से ही नाना जीव और जगत प्रकाशित होते हैं। जीव भाव संकुचित भाव है। माया के आणव, मायीय और कर्म पाश है। ज्ञाता, ज्ञान, क्षेय का भेद ही उसका रूप है। मन का प्रसार ही जगत है, स्वप्नोपम जगत ही माया है। ब्रह्म स्वयं दर्पण है जिसमें समस्त विश्व प्रतिबिंबित होता है, अतः वह भासमात्र है। चित्त दर्पण या मन में स्वातंत्र्य के परिणामस्वरूप या *आतम अदिष्टि* के परिणामस्वरूप यह भास हो रहा है। इसी को जाल समेटना और फैलाना कहकर कबीर मुक्ति और बंधन का कारण मानते हैं। प्रत्यभिला स्वतंत्र शक्ति का निरूपण कर जड़, चेतन पदार्थों को आभास मानती हैं। कबीर इसे मानव मन का प्रपंच कहते हैं :

*मन माया तो एक हैं, माया नहीं समाय।*
*तीन लोक संसय परा, काहि कहूं समझाय।।*

(बीजक, 105)

*हठयोग प्रदीपिका* (3/53) में *एकं सृष्टिमयं बीजं एकावस्था मनोन्मनी* कहकर मन के सुस्थिर होने को लक्ष्य कहा गया है। मन की उन्मनावस्था की साधना इसी माया से बचने के लिए है। संतों में लययोग यहीं काम देता है। *योग तत्वोपनिषद* में *लय योगश्चितलयः* कहा गया है। *कठोपनिषद* (2//3/10) में कहा गया है कि योगाभ्यास से ज्ञानेंद्रियों, मन और बुद्धि का लय ही परमगति का सूचक है :

*यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसामह*
*बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।*

लय योग में जीवन मृत्यु का अनुभव होता है। दृढ़ भावना से वाणी को मन में, मन को प्राण में, प्राण को मृत्युभाव में, मृत्युभाव को त्रिगुण में, त्रिगुण को मूल प्रकृति में, प्रकृति को आत्मा में तथा आत्मा को अविनाशी ब्रह्म में लीन करना ही लय है। युधिष्ठिर को इसी प्रक्रिया से यह अनुभव हुआ कि यह संपूर्ण दृश्य ब्रह्मस्वरूप है :

*वांचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम्।*
*मृत्यावनपानं सोत्सर्गं तं पंचत्व हयजोहवीत्।*

*त्रित्वे हुत्वाथ पंचनित्वं तच्चैकत्वे जुहोन्मुनि।*
*सर्वात्मन्यजुहवीद ब्रह्मण्यात्मानमव्यये।*
(भागवत 1/15/41-42)

यह प्रक्रिया सूक्ष्म होने के कारण इसे कबीर ऐसे ही नहीं कहते। पर *दिल दरपन में जोवै* की बात प्रत्यभिज्ञावादियों की तरह ही कहते हैं। हां, काया को ब्रह्मग्नि में जलाने का संकेत कबीर भी देते हैं, इसी का उल्लेख भागवतकार ने किया है। *भागवत* सांख्ययोगपरक अद्वयवादी संहिता है :

*बसे गगन में दुनी न देखे चेतनि चौकी बैठा।*
*चढ़ि अकाश आसन नहिं छांड़े पील महारस मीठा।।*
*परगट कंथा माहैं जोगी दिल में दरपन जोवै।*
*सहस इकीस छहसै धागा निहचल नीके पोवै।।*
*ब्रह्म अगिनि में काया और त्रिकुटी संगम जागै।*
*कहै कबीर सोइ जोगेसुर सहज सुन्न त्यों लागै।।*
(क. ग्रं, पद 69)

आत्मा और परमतत्व के संबंध की अभिव्यक्ति कबीर ने केवला-द्वैतवाद के सहारे की है।[1] यह स्थिति भी कबीर को भागवत परपंरा की ही देन है। हठयोग प्रदीपिका में इसी का पोषण हुआ है :

*जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।*
*फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तथ कथौं गयानी।।*
(क. ग्रं. पद 44)

*साधो एक रूप सब माहीं।*
*अपने मनहिं विचारि के देखो और दूसरो नाहीं।*[2]

*शिवसूत्र* भोक्तृत्व भाव से मुक्त आत्मा को शुद्ध स्वरूप में स्थित होने के कारण केवली कहता है। यह केवली भाव ही केवलाद्वैत है। केवलाद्वैत की

1. *कबीर और उनका पंथ,* पृष्ठ 106
2. *अंत शून्यो वहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवाम्बरे।*
*अंतःपूर्णे वहिः पूर्णो पूर्णः कुंभ इवार्णवे।।*

धारणा भी तंत्र सम्मत है।

*भागवत* के ग्यारहवें स्कंध के दूसरे अध्याय में राजा निमि को हरि नामक योगेश्वर ने यही उपदेश दिया है :

*सर्व भूतेषु यः पश्येद भगवदभावमात्मनः*
*भूतानि भगवत्यान्मन्येष भागवतोत्तमः।*

(11/2/45)

शैव सूत्रों से इसे शुद्धतत्वानुसंधान कहते हैं। पशुत्व की निवृत्ति इसी स्थिति में होती है।

*श्रीमद्भागवत* वैष्णवागमों में मान्य ग्रंथ है। यह उक्त आत्मसाधना पर बार-बार जोर देता है। कबीर के तत्वज्ञ होते हुए भी भक्तिवादी होने का यही रहस्य है:

*आपा पर संमि चीन्हिये दीसे सरब समान।*
*आपहिं आप विचारिये तब कैता होइ अनंदरै।।*

(क. ग्रं., पद 5)

श्रुति भी इस तथ्य का समर्थन करती है। जैसे अग्नि आप से आप प्रकाशित होता है, आप मिलता तथा आप सेवा को प्राप्त है, उसी तरह बोध चाहने वाले पुरुषार्थी को भी स्वयं सामर्थ्यवान् बनना चाहिए।

एकमुखी भक्ति कबीर का इष्ट है। वह इसे निष्काम पतिव्रता के समर्पण से उपमित करते हैं। स्वामी रामानंद से तत्वज्ञान के साथ इस निर्मल भक्ति का वरदान भी उन्हें मिला था :

*जे मन लागे एक सूं तो निरवाल्या जाइ।*
*तूरा दुइ मुखि बाजणां न्याइ तमाचै खाइ।।*

(क. ग्रं., पतिव्रता कौ अंग 12)

भक्ति जीव में रहने वाले आनंदांश का ही दूसरा नाम है। अतः भाव-देह से ही इसका अनुभव हो सकता है। कबीर इसी को भाव-भगति कहते हैं :

*किआ जपु किआ तपु संजमो किआ बरहु किआ इसनान।*
*जबलगि जुगति न जानिबे भाऊ भगति भगवान।।*[1]

1 संत कबीर, राग गउडी, 63

विद्वानों ने कबीर के प्रपत्तिमार्ग को *वायुपुराण* में प्रपत्ति के उल्लिखित छह मार्गों से जोड़ने का प्रयत्न किया है।[1] पर वैष्णवागमों में इसका उल्लेख पहले मिलता है। अतः कबीर का प्रपत्ति मार्ग भी आगमोक्त है :

*आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।*
*रक्षिष्यतीति विश्वासी गोप्तृत्वे वरणं तथा।*
*आत्मनिक्षेप कार्यण्ये षड्विद्या शरणागतिः।*

इनके उदाहरण *कबीर ग्रंथावली* के पद क्रमशः 178, 241, 338, 374, तथा 379 में मिल जाते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथों में कबीर की चिंताधारा पर बौद्ध सहजयानियों– डॉ. गोविंद त्रिगुणायत, डॉ. मुंशीराम शर्मा के महासुख, सूफियों के प्रेमवाद तथा नाथों की हठयोग-साधना का प्रभाव भी, स्पष्ट किया है। कबीर स्वयं अपनी भक्ति को नारदी कहते हैं। अतः उनकी भक्ति भी पंचरात्र तंत्र पद्धति द्वारा ही संपुष्ट समझी जानी चाहिए। भक्ति के साधनों में उन्होंने संत की रहनी पर भी विचार किया है और यही उनके जीवन दर्शन का मुख्य विचार बिंदु है:

*निरबेरी, निहकामता, साईं सेती नेह।*
*विषया सूं न्यारा रहे, संतानि को अंग ऐह।।*

जात-पांत के बंधनों को अस्वीकार करने में दत्तात्रेय और गोरख जैसे अवधूतों की अति वर्णाश्रमी व्यवस्था उनकी प्रेरक रही है। योगमत, आगमिक साधना, द्वैताद्वैत विलक्षण परम तत्ववाद और सदाचार उन्हें अवधूत परंपरा से ही सहज भाव में प्राप्त हुआ था। बाह्याचार की व्यर्थता उन्होंने इसी तत्ववाद की तह से निकाली थी। अतः कबीर को किसी भी बौद्धिक तर्कवाद से परे समझकर चलना चाहिए। उनके निर्गुण राम अनुभव गम्य हैं, उनकी साधना अनुभव की साधना है और उनका साधन अनुभववादी। यदि कोई कहना चाहे तो वह अनुभववाद की प्रतिष्ठा के कारण आगमवादी कहे जा सकते हैं।

---

1. *कबीर और उनका पंथ, पृष्ठ 131*

# कबीर का आत्मदर्शन

*डॉ. गोविंद त्रिगुणायत*

कबीर का दर्शन आत्मदर्शन था— वही आत्मदर्शन जिसके निरूपण में सारे वेद अनादिकाल से प्रयत्नशील हैं। कबीर ने सामान्य व्यक्तियों के लिए अनिर्वचनीय को भी वचनीय बनाने की चेष्टा की है। उसे वाणी में उतारने के शत-शत प्रयास कबीर ने किए हैं। क्योंकि कबीर का उद्‌देश्य जनता को तत्वोपदेश देकर सन्मार्ग पर ले जाना था :

*कहहिं कबीर पुकारिके सभ का उहै विचार।*
*कहा हमर मानैं नहीं किभि छूटै भ्रम जाल।।*

(रमैनी, 52)

वे इस कलियुग में ही उपदेश नहीं दे रहे हैं उन्हें तत्वोपदेश करते चार युग बीत गए, माया विमूढ़ित जीव कुछ सुनता-समझता ही नहीं है :

*कहइत मोहि भइल युग चारी।*
*समुझत नाहि मोह सुत नारी।।*

(रमैनी, 50)

अनिर्वचनीय तत्व को वाणीबद्ध करने के शत-शत प्रयासों के परिणामस्वरूप कबीर को अभिव्यक्ति की शत-शत नूतन प्रणालियां अपनानी पड़ी। उन्होंने अपने तत्वोपदेश साधारणतया कहीं उलटबांसियों में, कहीं रूपकों में, कहीं प्रतीकों के सहारे, कहीं अन्य प्रकार की शैलियों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। परिणामस्वरूप बीजक एक धार्मिक एवं

दार्शनिक प्रकरण ग्रंथ, श्रेष्ठ आध्यात्मिक काव्य बन गया। कबीर के शुष्क दार्शनिक विचार-रूपी मोती काव्यत्व की मधुरिमा से आवेष्टित हो अमृतोपम बन गए हैं। उन्हें पाकर मानव देवोपम बन जाता है। यहां पर दार्शनिक सिद्धांतों को किस प्रकार काव्यमय अभिव्यंजना के सांचे में ढाला गया, इसके दो-एक उदाहरण देने श्रेयस्कर हैं। कबीर ने अनेक स्थलों पर ब्रह्मनिरूपण में अर्थांतर संक्रमित वाच्यध्वनि गर्भित निषेधात्मक शैली का प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए :

*पंडित मिथ्या करहु विचारा, न वह स्रिस्टि न सिरजन हारा।*
*थूल (अ) स्थूल पवन नहि पावक रवि ससि धरनि न धीरा।।*
*जोति सरूप काल नहिं उठवां, वचन न आहि सरीरा।*
*करम धरम किछुवो नहि उहवां न वह मंत्र न पूजा।।*
*संजम सहित भाव नहीं उहवां साधौ एक न दूजा।*

(बी.श.43)

इस पद में न का अर्थ अनिर्वचनीय लिया गया है, इसीलिए अर्थांतर संक्रमित है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार के सहारे भी ब्रह्मतत्व की अनिर्वचनीयता वर्णित है :

*जौ मुख होय जीभ दस लाखा।*
*तौ कोई आय महन्तो भाखा।।*

ब्रह्म की अनिर्वचनीयता व्यंग्य होने से यहां पर स्वतःसिद्ध अतिशयोक्ति अलंकार से वस्तु व्यंजना है। इसी प्रकार उन्होंने ब्रह्म निरूपण में और भी अनेक काव्यमयी शैलियों का आश्रय लिया, जिससे काव्य-सीपी में ब्रह्मनिरूपणरूप मोती की कांति प्रस्फुटित हुई है। फिर भी वह अनिर्वचनीय ही है :

*अविगति की गति काहु न जानी।*
*एक जीभ कत कहौ बखानी।।*

वह अनिर्वचनीय तत्व सर्वथा अद्वैत रूप है। उसकी अद्वैतता का भान

ब्रह्मभूत महात्मा ही स्वानुभति के बल पर कर पाता है। ब्रह्मभूत यह महात्मा सर्वात्म रूप हो जाता है :

*मैं सिरजौ मैं मारहू, मैं जारो मैं खावं।*
*जल थल में मैं ही रम रहा, मोर निरंजन नाम।।*

विभावनात्मक शैली में भी कबीर ने ब्रह्म का निरूपण किया है जैसे :

*कर विनु वाजै सुनै स्रवन विनु श्रवण सरोहा सोई।*

किंतु वह अवतार ग्रहण नहीं करता :

*दशरथकुल अवतरि नहीं आया, वहीं लंका के राव सताया।*

वही अलख निरंजन अपनी इच्छा से कर्त्ता भी बन जाता है :

*आपुहि कर्त्ता भये कुलाला।*
*बहुविधि वासन गढ़े कुम्हारा।।*

इस प्रकार कबीर ने निरूपाधिक तत्व को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। परब्रह्म का रूप सोपाधि भी है। उपाधि का ही एक रूप माया है। मायोपाधि से विशिष्ट चैतन्य के रज, तम, सत भेद से तीन भेद बताए गए हैं— ब्रह्म, विष्णु और महेश। जीव भी चैतन्य का एक उपाधियुक्त रूप है। अतः वह ब्रह्म के उपाधियुक्त रूप को जितनी सरलता और सहजता से समझ सकता है तथा जितने अपनत्व भाव से उसके दर्शन और श्रवण, मनन एवं ध्यान कर सकता है उतना वह निरुपाधि ब्रह्म का नहीं कर पाता। अतः व्यावहारिक जीवों के लिए कबीर को कहीं-कहीं सोपाधि परमात्मा के प्रति भी आस्था प्रकट करनी पड़ी है। *कहै कबीर एक राम भजे बिनु बांध जमपुर जासीं।* किंतु सोपाधि ब्रह्म उनको केवल व्यावहारिक रूप में ही मान्य है। तात्विक रूप दृष्टि से वे निरुपाधि ब्रह्म के उपासक थे। अतः स्थान-स्थान पर उन्होंने ब्रह्म के सोपाधि रूपों का खंडन ही किया है जैसे

*जाहि राम को कर्त्ता कहिए तिनको काल न राखा।*

किंतु राम रूप के बिना वाणी प्रवर्तित ही नहीं होती, अतः उन्होंने सोपाधि ब्रह्म के राम, हरि, गोपाल आदि अभिधानों के सहारे ही अपने

निरुपाधि ब्रह्म का वर्णन किया है।

जिसने इस विचित्र चित्र रूप संसार की रचना की है वही सच्चा सूत्रधार है। फिर भी सृष्टि की रचना के लिए व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रीतत्व की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए कबीर ने कहा है :

*तब अष्टगी रचल कुमारी।*
*तीनि लोक मोहा सब झारी।।*

एक पुरुष और एक ही नारी से सारी सृष्टि का विकास हुआ है :

*एकै पुरुष एक है नारी।*
*तातै रचनि खानि भौचारी।।* (रमैनी, 27)

नारी के रूपक से कबीर ने माया का विस्तृत निरूपण किया है। कबीर ने ब्रह्म और माया के संबंध-निरूपण के लिए दोनों में दाम्पत्य संबंध का रूपक अभिकल्पित किया है। ब्रह्म नर है और माया नारी है। जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में नर-नारी के दांपत्य संबंध के बिना सृष्टि का विकास संभव नहीं होता, वैसे ही तात्विक दृष्टि से ब्रह्म और माया के दाम्पत्य संबंध के बिना ब्रह्मांड का विकास नहीं होता। इसीलिए कबीर ने सर्वत्र ब्रह्म को खसम पद से और माया को नारी पद से अभिहित किया है। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि माया को सर्वत्र एक दुर्बल दोषमयी नारी के रूप में चित्रित किया गया है, सती नारी के रूप में नहीं। कबीर का पुरुष ब्रह्म अथवा सांख्य के पुरुष के समकक्ष है और उनकी माया सांख्य की प्रकृति का प्रतिरूप है। जिस प्रकार सांख्य की प्रकृति कभी व्यक्त, कभी अव्यक्त रहती है, वैसे ही माया भी आनी-जानी है :

*संतों आवे जाय सो पाया है।*
*कहैं कबीर सुनहु हो सन्तो उपजै खपै सो दूजा।।*

उपादान कारण सत, रज और तम है :

*रज सत तम गुन धरति अकासा।*

यह सब स्थूल उपादान हैं। सूक्ष्य उपादान ओंकार स्वरूप (शब्द रूप) परमात्मा है :

*एक अंड ओंकारा ते सब जग भयो पसार।*

(रमैनी, 27)

कबीर ने जीवात्मा एवं ब्रह्म में भी नारी-नर का संबंध माना है :

है नारी सब राम की अविचल पुरुष भतार।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कबीर जीव की अनेकता में विश्वास करते थे। *बहुतक जीव सताय* (रमैनी, 31) से भी इसी बात की पुष्टि होती है। जीव शुद्ध आत्मतत्व ही है।

*आपुनि कर आपुनि गर बंधा।*
*झूठा मोह काल को फंदा।।*

बंधन का कारण कर्मजाल भी है। इसी बंधन में बंधकर जीव को जन्म-मरण के चक्र में फंसना पड़ता है। अतः कर्त्ता या चेतनात्मा की महिमा को समझ कर कर्मजाल से मुक्त रहने की चेष्टा करनी चाहिए। किंतु जो जीव अपने अहं के वशीभूत रहते हैं उन्हें नर्क में ही रहना पड़ता है :

*जिहि जिव कीन्ह आय विस्वासा।*
*नरक गये तेहि नरकहि वासा।।*

यह अहं ही माया का मूल है। इस अहं से सारा द्वंद्वात्मक जगत परिपूर्ण है। यहां तक कि *हरि हर न ऊबरे सुर नर मुनि केहि केर* (रमैनी, 46)

इस प्रकार यह माया अत्यधिक मोहन रूपा है :

*ई माया जग मोहिनी मोहिन सब जग झार।*

उसका स्वरूप निरूपण कबीर ने इस प्रकार किया है :

*तहिया गुपुत थूल नहिं काया।*
*ताके न सोग ताकि पै माया।।*
*तथा नारि संसारहिं आई।*
*माय व वाके बाप ही जाई।।*
*गोड़ न मूड़ न प्राण अधारा।*
*ता मह भथरि रहा संसारा।।*

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर ने माया के अनादि निराकार रूप का वर्णन किया है। वेदांत में शुद्ध और अशुद्ध भेद से उपाधि दो प्रकार की बताई गई है। शुद्ध उपाधि को माया और अशुद्ध को अविद्या कहते हैं। मायोपहित चैतन्य ईश्वर कहलाता है और अविद्या से अहित चैतन्य जीवाभिधान धारण कराता है। वेदांत के इस सिद्धांत को कबीर ने नारी के माता रूप से निरूपित किया है :

*नारी एक पुरुष दोय जाया बूझहु पंडित ज्ञानी।*

इसमें ईश्वर भी सत, रज, तम भेद से तीन प्रकार बताया गया है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश क्रमशः रज, सत, तम के आधार पर निर्मित ईश्वर के तीन रूप हैं :

*रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत्त गुन हरि सोई।*
*कहैं कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरक न कोई।।*

कबीर ने उपाधि के उपर्युक्त दोनों रूपों का विविध रूपकों के सहारे वर्णन किया है। अविद्या उपाधि का वर्णन जुलाहिन के रूपक से निम्न प्रकार से किया गया है :

खुर खुर खुर खुर चाले नारा बैठि जुलाहिन पलधी मारा।

यद्यपि माया उपाधि अविद्या की अपेक्षा उत्तम व्यंजित की गई है किंतु है वह उपाधि ही। अतः रज, तम, सत के आधार पर निर्मित ब्रह्म, शिव और विष्णु ही तो देववाद का मूल हैं। अतः कबीर ने संपूर्ण देववाद का मूलोच्छेदन करके माया की त्याज्यता ही व्यंजित की है। क्योंकि यदि अविद्या बंधन का कारण है तो माया उस दुर्गुण से मुक्त कब है ? इस माया के पाश कर्म हैं। इन कर्मों में ही फंसकर मनुष्य अविद्या विमूढ़ित होता है :

*कर महि कर कर जग बौराया।*

इस कर्मजाल की विधायनी माया का निराकरण दो ही साधनों से हो सकता है— एक सत्संगति से और दूसरे भक्ति से :

*संगति भगति से बोधनि माया।*

इस प्रकार कबीर ने अविद्या और माया दोनों को ही मान्यता दी है।

अब कुछ शब्द कबीर के 'बंध' मोक्ष संबंधी सिद्धांतों के विषय में हैं। वेदांत के अनुसार बंध का प्रमुख कारण अध्यास है। यह अध्यास अविद्याजन्य होता है। अविद्या अज्ञान का ही रूप है। अविद्या अथवा अज्ञानवश ही आत्मा चेतन ब्रह्म के धर्मों को जड़ जगत के धर्म मान लेता है, जितने आडंबर हैं, जितना दृश्य जगत है, जितनी खोखली व्यावहारिकता है, उसे सब चेतन का धर्म समझ लेते हैं। परिणाम यह होता है कि जीव सच्चिदानंद शुद्ध बुद्ध मुक्त होते हुए भी अपने को कर्त्ता और भोक्ता मान बैठता है। यही उसका बंधन है। उनका अपने भ्रम से कर्त्ता या भोक्ता मान लेना ही दुख-त्रय का प्रधान कारण है। अतः कबीर ने इस रहस्य का उद्‌घाटन कर इस प्रकार के भ्रम के निराकरण का उपदेश दिया है :

*आपु पौ आपुहि विसरो।*
*जैसे सुनहा कांच मदिल में भरम ते भूमि भरो।।*
*ज्यों केहरि बपु निरखि कूप जल प्रतिमा देखि परो।*
*वैसे ही गज फटिक सिला पर दसनन्हि आनि अरो।।*
*मरकट मूठि-स्वाद नहीं विहुरे बर घर रटत फिरो।*
*कहा खोर ललनी के सुगना तोहि कौने पकरो।।*

इस प्रकार आत्मबोध का न होना ही बंधन का प्रमुख कारण है। आत्मदर्शन अथवा आत्मबोध के होते ही जीव जीवनमुक्त हो जाता है। कबीर ऐसे ही जीवनमुक्त योगी थे। इसीलिए अहं के बंधन में फंसे हुए पंडितों से उन्हें कहना पड़ा है :

*पंडित देखहु हिदय विचारी को पुरुषा को नारी।*
*सहज समाना घट घट बोले को नारी वाके चरित अनूपा।*
*वाको नाम काह कहि लीजे ना वाके वरनन रूपा।*
*तै मैं काह करसि नल वीरै का तेरा का मेरा।*
*राम खोदाय सकति सिव एकै कतु धौ काह निहोरा।*
*वेद पुरान कुरान कितेबा नाना भांति बखाना।*

उनका यह अद्वैतवाद ही आत्ममूलक सर्वात्मवाद के रूप में परिणत हो गया था :

*आपुहि देवा आपुहि पाती।*
*आपुहि कुल आपुहि है जाती।।*
*सर्वभूत संसार निवासी।*
*आपुहि खसम आप सुखवासी।।*

यही कबीर का आत्मदर्शन है, यही सहज दर्शन है। इसी को उन्होंने आत्मविचारणा भी कहा है। आनंद का अक्षय उत्स यह आत्मविचारणा है :

*आपहि आप विचारिये तब केता होय अनन्द रे।*

इस आत्मदर्शन एवं आत्मविचारणा के अतिरिक्त अन्य जितने दर्शन हैं, जितनी पद्धतियां हैं वे सब पाखंड हैं, दुख-रूप हैं।

छः *दरसन छयानबे पाखण्ड आकुल किन्हु न जाना।*

कबीर की दृष्टि में यह सब केवल इसलिए त्याज्य है कि इनका प्रमाण्य लिखित ज्ञान है, स्वानुभूत आत्मबोध नहीं। तभी तो उन्हें कहना पड़ा है :

*पंडित भूले पढ़ि गुन वदा।*
*आप अपन पौ जान न भेदा।।*

उनका सारा खंडन-मंडन इसी पवित्र भावना से प्रेरित है ; किसी दुर्भावना से नहीं। निश्चय ही वे हमारी भाषा के महान आत्मद्रष्टा थे, आत्मश्रोता थे, आत्मयोगी थे। उन्हें किसी दार्शनिक पद्धति या वाद विशेष में बांधना बहुत बड़ी भूल है। उन्हें किसी कोटि विशेष में रखना बहुत बड़ी गलती है। वे स्वतंत्र आत्मज्ञानी थे। उनका दर्शन सहज आत्मदर्शन था।

# कबीर चिंतन में सामाजिक न्याय

*प्रयाग नारायण त्रिपाठी*

कबीर न केवल एक महान संत और कवि थे, वरन वे एक महान समाज-सुधारक और भविष्य निर्माता भी थे। यह अवश्य है कि सामाजिक विषमता और गिरावट को दूर करना कबीर का प्रथम या सर्वोच्च इष्ट नहीं था। वे उसी सीमा तक इस कार्य में प्रवृत्त हुए जिस सीमा तक सामाजिक परिस्थितियां कबीर की आध्यात्मिक साधना के आड़े आईं। परंतु कबीर अपने पूर्ववर्ती सभी संतों और चिंतकों से इस अर्थ में भिन्न थे कि उन्होंने अप्रिय सत्य कहने में कभी हिचक नहीं दिखाई। उन्होंने मानव की समानता के आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए न केवल तत्कालीन मुसलमान शासकों को धर्मांधता के लिए फटकार लगाई बल्कि हिंदुओं को भी ऊंच-नीच, छुआछूत और विचारशून्य, कोरे कर्मकांड के लिए धिक्कारा। कबीर की यह स्पष्टवादिता ही उन्हें उच्च कोटि के समाज-सुधारक और न्यायदर्शी के पद पर प्रतिष्ठित करती है। हिंदू हो या मुसलमान, ऊंच हो या नीच, धनी हो या निर्धन, सभी में एक ही परमात्मा के दर्शन करनेवाले कबीर को यह सहन ही कैसे हो सकता था कि धर्म, जाति या संप्रदाय के घरौंदों में बंटकर लोग एक दूसरे से घृणा करें या संघर्ष का मार्ग ग्रहण करें ? घृणा के स्थान पर प्रेम और संघर्ष की जगह समन्वय कबीर को इष्ट था क्योंकि कबीर मानते थे कि

*सोहं हंसा एक समान।*
*काया के गुन आनहिं आन।।*

*माटी एक सकल संसारा।*
*बहु बिध भांड़े घड़ै कुम्हारा।।*
*पंचबरन दस दुहिए गाइ।*
*एक दूध देखौ पति आइ।।*
*कहैं कबीर संसा करि दूरि।*
*त्रिभुवननाथ रह्या भरि पूरि।।*

इस प्रकार संपूर्ण जगत में एक ही परमात्मा के दर्शन करना कबीर चिंतन का मूल तत्व है और कबीर की साहसिकता और मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने अपने अनुभूत सत्य की प्रतिष्ठा के लिए धार्मिक पाखंड, अंध-विश्वास और संकीर्णताओं पर करारी चोट की। डॉ. रामकुमार वर्मा का कथन है कि *जनता की धर्मांधता और शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्मकाल के समय में हिंदू-मुसलमान का विरोध बहुत बढ़ गया था। धर्म के सच्चे रहस्य को भूलकर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित होकर दोनों जातियां धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थीं। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्ग के प्रदर्शन का श्रेय कबीर को जाता है।* यह सच्चा मार्ग समन्वय का मार्ग था। यह सर्वधर्म समभाव की भूमिका थी। यह सत्यानुमोदन करने का आस्थापूर्ण प्रयास था। यह 'मरम' था जिसे कबीर ने अपने और बाद के सभी कालों के लिए उद्‌घाटित किया :

*कह हिंदू मोहि राम पियारा*
*तुरूक कहै रहिमाना।*
*आपस में दोउ लरि लरि मूए*
*मरम न काहू जाना।।*

हिंदू-मुसलमान ही नहीं, स्वयं हिंदुओं में न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र, इसकी घोषणा भी कबीर ने हिंदुत्व के गढ़ काशी में रहते हुए बार-बार की :

*एक बूंद एक मल मूतर,*
*एक चाम एक गूदा।*
*एक जोत थैं सब उतपन,*
*कौन ब्राह्मण कौन सूदा।।*

यही नहीं, प्रतिमा-पूजन के प्रति भी कबीर का दृष्टिकोण तत्कालीन सामाजिक चिंतन के संदर्भ में बहुत ही क्रांतिकारी कहा जाएगा :

*जेती देखौ आतमा तेता सालिगराम।*
*साधू प्रतषि देव हैं नहीं पाथर सूं काम।।*

कबीर इस प्रकार सच्चे साधु की सेवा और सम्मान को प्रतिमा पूजन से अधिक महत्त्वपूर्ण और श्लाघनीय मानते थे। इसी संदर्भ में कबीर ने यह भी कहा कि कलियुग में एक विचित्र खोट यह है कि सच्चा साधु या मुनि तो कम ही मिलता है, हां लालची, लोभी और मसखरों का आदर होता है :

*कबीर कलि खोटी भई मुनियर मिलै न कोई।*
*लालच लोभी मस्करा तिन कूं आदर होई।।*

कबीर की दृष्टि में ऊंचे कुल में जन्म लेना भी महत्व नहीं रखता था, जब तक 'करनी' ऊंची न हो :

*ऊंचे कुल क्या जनमियां जे करणी ऊंचे न होइ।*
*सोवन कलस सुरै भरा साधू निंद्या सोइ।।*

इस प्रकार, कबीर ने तत्कालीन धर्मों और संप्रदायों के अंतर्विरोध तथा हिंदू वर्ण-व्यवस्था और मत-मतांतरों की विकृति को उजागर किया। उन्होंने बाह्याचार प्रधान साधनाओं को तिरस्कृत किया, क्योंकि इनके द्वारा विकृति की आशंका कहीं अधिक रहती थी। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, *कबीर के तत्वग्राही व्यक्तित्व ने सभी मतवादों व साधनाओं से जीवन के मानवतवादी दृष्टिकोण के उपयुक्त मूलभूत तत्वों को अपना लिया था।..... कबीर का व्यक्तित्व अंतर्विरोधों का मिलन-बिंदु था।* वास्तव में कबीर सभी जातियों, धर्मों और संप्रदायों के सामान्य जन से एकात्म-भाव का अनुभव करते थे।

उन्होंने कहा :

*कुम्हरा ह्वै करि बासन धरिहूं*
*धोबी ह्वै मल धोऊं।*
*चमरा ह्वै तरि रंगौं अघोरी*
*जाति पाति कुल खोऊं।*
*तली ह्वै तन कोल्हू करिहौं*
*पाप पुण्य दोउ पीरौ।*
*पंच बैल जब सूध चलाऊं*
*राम जेवरिया जोरूं।।*
*छत्री ह्वै करि खड़ग संभालूं*
*जोग जुगुति दोउ साधूं।*
*नउवा ह्वै करि मन कौ मूंडूं*
*बाढ़ी ह्वै क्रम बांधूं।।*

कबीर वर्णभेद का सर्वथा तिरस्कार करते हैं। इतना ही नहीं, वे वर्गभेदों को भी स्वीकार नहीं करते, श्यामसुंदर दास ने कबीर कालीन निर्गुण भक्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – *वर्णभेद से उत्पन्न उच्चता और नीचता को ही नहीं, वर्गभेद से उत्पन्न उच्चता और नीचता को भी दूर करने का प्रयत्न इस निर्गण भक्ति ने किया।* प्रमाण-स्वरूप कबीर ने इस कथन को देखें :

*व्यापक ब्रह्म सबरि मैं एकै*
*को पंडित को जोगी।*
*राणा राव कवन सूं कहिये*
*कवन बैद को रोगी।।*

बड़प्पन के अभिमान को फटकार लगाते हुए कबीर ने कहा है कि इस अहंकार ने ही बहुतेरे घर नष्ट किए हैं :

*मैं बड़ मैं बड़ मैं बड़ माटी।*
*मण दस नाज टका दस गांठी।।*

*मैं बाबा का जोध कहाऊं।।*
*अपनी मारीं गींद चलाऊं।।*
*इनि अहंकार घने घर घाले।*
*नाचति कूदति जमपुर चाले।।*

इतना ही नहीं, कबीर के समय तक स्त्री-पुरुष में भेदभाव भी बहुत तीव्र चला आ रहा था। परंतु कबीर के गुरु रामानंद के शिष्यों में पद्मावती और सुरसरी नाम की दो महिलाएं भी थीं और स्वयं कबीर ने लिखा :

*जेती औरति मरदां कहिए*
*सब में रूप तुम्हारा।*
*कबीर पंगुड़ा अलह राम का*
*हरि गुर पीर हमारा।।*

तथा

*आप कटोरा आपै थारी।*
*आपै पुरिखा आपै नारी।।*
*आपै सदाफल आपै नींबू।*
*आपै मुसलमान आपै हिंदू।।*
*आपै कछ मछ आपै जाल।*
*आपै झीवर आपै काल।।*

कबीर के बाद सहजोबाई, दयाबाई, मीरा आदि स्त्री संतों की प्रतिष्ठा का श्रेय उस चिंतन को जाता है जो कबीर की रचनाओं में मिलता है।

कबीर अपने समय और समाज में व्याप्त ऊंच-नीच और अंधविश्वास पर गहरे व्यथित थे। इस व्यथा को वाणी देने के लिए कभी-कभी कबीर बहुत ही आकुल-व्याकुल हो जाते थे और तब भले ही भदेस लगे, परंतु उनकी वाणी बड़ी ही मार्मिक और तीखी बन जाती थी। जात-पांत और वर्ण-व्यवस्था पर चोट करते हुए उन्होंने बड़े ही तीखे शब्दों में कहा है :

*नहि कोउ ऊंचा नहि कोउ नीचा।*
*जाका प्यंड ताही का सींचा।।*
*जे तू बांभन बंभनी जाया।*
*तो आन बाट ह्वै काहे न आया।।*
*जे तू तुरक तुरकनी जाया।*
*तो भीतरि खतना क्यों न कराया।।*
*कहैं कबीर मधिम नहिं कोई।*
*सो मधिम जा मुख राम न होई।।*

कबीर की यह व्यथा किसी वर्ग विशेष की व्यथा न होकर संपूर्ण मानवता की वेदना थी। वह मूलतः समाज से उपजी थी, यद्यपि अपने व्यापकत्व और शाश्वतता में वह आध्यात्मिक और नैतिक अधिक थी। कबीर वास्तव में सच्चे-सीधे और अलमस्त संत थे। पठन-पाठन से अधिक उन्हें प्रत्यक्षानुभूति में विश्वास था (*मैं कहता आंखिन की देख़ी*)। अपने प्रभु और अपने आदर्शों की खातिर कबीर किसी भी प्रकार की आर्थिक संपन्नता, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि लौकिक उपलब्धियों को तुच्छ समझते थे। कबीर ने अपने उपदेश और काव्य द्वारा न केवल अपने समय में आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया, वरन उन्होंने आचार्य श्यामसुंदर दास के शब्दों में, *तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और उत्तरी भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिए उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत बना दिया।* कबीर की वाणी वास्तव में आज भी हमारे सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन के लिए मार्गदर्शन कर रही है।

# बंदीछोर– साहेब कबीर

## *इंद्रराज सिंह*

स्व नाम धन्य सद्गुरु कबीर एक महान अस्तित्व लेकर इस संसार में अवतरित हुए– अपने सत्यस्वरूप में निहित उज्ज्वल मणि की भांति, जो स्वयं प्रकाशित हो, उसे किसी और से प्रकाश ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, प्रकाश फैलाना उसका स्वाभाविक धर्म होता है। उसकी प्रतिभा गंगा की धारा की तरह होती है, जिसमें सभी नदी-नाले मिलकर शुद्ध गंगाजल बन जाते हैं। गहनता और तीव्रता ही उसकी प्रतिभाएं हैं। गंगा किसे कहने जाती है कि आओ मुझ में मिल जाओ। वस्तुतः गंगा भी एक है, कबीर भी एक है। इन दोनों की संगीतमयी कलकल सुन-सुन कर आज सारा भारत ही उनमें लीन होता जा रहा है। निस्संदेह कबीर सूर्य की भांति आदि संत थे।

प्रतिभा किसी की बपौती नहीं होती। उसकी संभावना हर मनुष्य में विद्यमान है– किसी ने अगर वेद, कुरानादि धर्मग्रंथ नहीं पढ़े तो ऐसा नहीं कि उसे यह प्रतिभा (ज्योति) मिलेगी ही नहीं। यह प्रतिभा अंतर्ज्योति (ज्ञानस्वरूप आत्मा) के रूप में सभी के अंतर में बसी है, जो साधना (उद्यम) से प्रकट हो जाती है और कभी-कभी सहज भाव से भी। प्रकृति में कभी-कभी अनोखी घटनाएं घट जाती हैं जो विशेष अवस्था में पैदा नहीं की गई होतीं। इस प्रकार जब ज्ञान किसी की बपौती नहीं हो तो भाषा भी किसी की बपौती नहीं, किसी के बंधन में बंधी नहीं हो सकती। व्याकरण भाषा के लिए है, भाषा व्याकरण के लिए नहीं। भाषा बहता नीर है और बहता जल शुद्ध होता है। जनभाषा जीवित भाषा होती है। अगर समाज में परिवर्तन होता है तो भाषा

में वह भी परिलक्षित होता है। भाषा में भाव अथवा बहाव पनपते अथवा बहते रहते हैं। आर्षवाणी बंधनहीन होती है। वह बनाने से नहीं बनती, वरन् समुद्र मंथन से प्राप्त रत्नों की तरह स्वयं धरातल पर आ जाती है। वह (संतवाणी अथवा इलहाम) सरलतम भाषा में होती है। पाठशालाओं की व्याकरणबद्ध भाषा जनसाधारण से दूर और एक सीमा तक नकली होती है। इसलिए इस प्रकार के भाषा ज्ञाताओं को संतवाणी कठिन और अटपटी लगती है। श्रीकृष्ण की गीता सरलतम है अगर ग्वाले की दृष्टि से देखी जाए, कबीर की वाणी सरलतम है अगर जुलाहे की दृष्टि से देखी जाए। भाव यह है कि आदमी का हृदय जितना सरल होगा आत्मा का भाव उतना ही ग्राह्य होगा, विद्याहंकार उसे ग्रहण नहीं करने देता।

यह भाषा देखनी पड़ती है, सुननी तथा पढ़नी पड़ती क्योंकि यह (आत्मानुभव की भाषा) दृष्टा की भाषा है, साक्षी है। यह राह चल कर देखनी होती है। इसलिए ही इस तक श्रुति की पहुंच नहीं– गूंगे का गुड़ जो है। गुरु साक्षी है, उसने यह भाषा (राह) देखी है। इस पर जब जिज्ञासु (शिष्य) चल देता है तो प्रेम विरह की डोरी पकड़कर मंजिल पर पहुंच जाता है। राह सरल हो जाती है, 'हथेली का आंवला' हो जाती है। जो मंजिल को प्राप्त हो जाता है, गुरु हो जाता है। दीपक से दीपक जल जाता है, भेद मिट जाता है। प्रेम का मार्ग अति संकीर्ण है। विरह की अग्नि परीक्षा बिना एकता नहीं होती यह अटल नियम है– समाज में भी विज्ञान में भी। अहंकार मिटे बिना गुरु पद प्राप्त होना अथवा इष्ट का प्राप्त होना असंभव है। इसलिए कबीर ने कहा कि प्रेम के लिए शीश का बलिदान करना होता है, घर फूंकना पड़ता है– देश-प्रेम हो अथवा भगवान प्रेम। हीरा तभी मिलता है जब उसकी कीमत चुका दी गई हो। प्रेम का मार्ग संकीर्ण है, पैर साध-साध कर रखना होता है– सिर का भार उतार कर फेंक देना पड़ता हैं क्योंकि ऊंचे शिखर पर पहुंचना है, सत्य का जहां मंदिर है, जहां से अमृतमयी गंगा बहती है। यही उद्‌गम तो लक्ष्य है, मोहमाया छोड़े बिना यह नहीं मिलेगा। उद्‌गम का पता लगने पर ही जाना जा सकेगा कि सत्य क्या है– इस जल का स्रोत क्या है।

यही उद्गम तो कबीर का, ईसा का और सभी का आद्य स्रोत है। मां माया को तो सभी पूजते हैं पर अपने बाप को कब किसने पहचाना है। कौन जानता है कि बाप के कार्य (हुक्म) को पूरा करने के लिए ही सब इस संसार में आते हैं। किसी को पता नहीं कि बाप कौन है। लोग अनेक नाम लेते फिरते हैं— कल्पनाएं करते फिरते हैं। पर बाप तो सत्य है। उसने बाप का नाम जागृत किया और मां-माया को सहज में एक तरफ खड़ा कर दिया और फिर बाप के पास पहुंच गया— *ऐसा पूत-सपूत न देखा, जो बापहिं जाने चीन्हि*। फिर भी उस बाप के नालायक बेटे सच्चे सपूत पर छींटाकशी कर रहे हैं। उसके बाप का नाम पूछ रहे हैं। भेद जरूर है क्योंकि वह राजा के घर पैदा नहीं हुआ, नहीं तो कृष्ण या बुद्ध क्यों न बन जाता। वह बुद्ध या कृष्ण तो न बना पर हर भारतीय के हृदय में सत्य-सहज-ज्ञान स्वरूप का चमत्कार तो अवश्य कर रहा है। उसकी ज्योति उधार ली हुई नहीं थी क्योंकि वह तो प्रकट स्व-संवेद, स्वयंज्योति है। हीरे की खान में कभी-कभार दीप्तिवान बहुमूल्य हीरे भी मिल जाते हैं, उनमें कोहिनूर भी हो सकता है। पर उस हीरे को परखने वाला जौहरी कौन होगा ? कितने दिन गली में पड़ा-पड़ा ठोकरें खाता रहा। कइयों ने उसे कांट-छांट कर अपने ताज में लगा लिया और वह इसी प्रकार घर-घर की ज्योति बन गया। पर किसी ने आज तक यह पता न लगाया कि वही तो वह दैदीप्यमान हीरा था जिसे काशी के एक जुलाहे ने उठा लिया। भगवान भी तो एक जुलाहा है जिसने संसार का ताना-बाना बुना है।

जिज्ञासा और उसके समाधान की स्वाभाविक व्यवस्था होनी चाहिए, हर साखी का पूर्ण विवेचन होना चाहिए, गुरुजनों के द्वारा उसका समाधान ढूंढ़ा जाना चाहिए। अंधी श्रद्धा ठीक नहीं। गुरुवाणी गुप्त ज्ञान नहीं, वह जनता की सरलवाणी है उसे सरल हृदय पहचानते हैं। ज्ञान-दर्शन और उसका प्रचार-प्रसार सभी को सहज उपलब्ध होना चाहिए। कबीर का जीवन दर्शन सरल है उसका प्रचार-प्रसार भी साधारण सरल जनता में किया जाता है। उसकी भाषा वेद-वेदांग अथवा अन्य ग्रंथों की तरह क्लिष्ट अथवा अज्ञात

भाषा नहीं, जिसके लिए बड़ी-बड़ी टीका-टिप्पणियों की आवश्यकता पड़े, जो सरस्वती का मायाजाल बन चुकी हो और जिस पर बुद्धिजीवियों की छाप लग चुकी हो।

वह सचमुच कबीर (महान) है जिसे जैसा है वैसा न समझ कर लोग इधर-उधर की बातों में पड़े रहते हैं। कई लोग तिनके से पहाड़ नापते फिरते हैं और कभी-कभी खट्टे अंगूर कह कर दुतकारते फिरते हैं। सार को ग्रहण न कर थोथे के पीछे पड़े रहते हैं। साहित्यकारों और जन-साधारण के सामने कबीर के बारे में कई समस्याएं हैं, जिनका समाधान उन्होंने अपनी साखियों में कर दिया है। सत्य क्या है, जीव क्या है, कौन है राम, गुरु कौन है आदि-आदि उन्होंने स्वयं ही बता दिया है। सत्य मेरे पास है। मैं ही सत्य हूं। जीव सत्य असत्य का संघात है। जीव से परे सत्य ढूंढना व्यर्थ है क्योंकि उसी में सत्य छिपा है और सहज प्राप्य है— कच्ची धातु की तरह। गुरु का वचन पथ प्रदर्शक है। गुरु जिस पथ पर चल चुका है, वही पंथ है, वही सच्चा मार्ग है। वह दूसरों को चलने का आदेश देता है। इसलिए वह समाज का सच्चा प्रतिनिधि है, ज्ञाता है, द्रष्टा है क्योंकि वह अपनी मंजिल देख चुका है, वह अपने ध्येय, इष्ट को प्राप्त कर चुका है, जो सत्य है। इसलिए उसे प्राप्त करने पर और कुछ प्राप्त करने की आवश्यता नहीं रहती। वह स्व-संवेद ज्ञानस्वरूप स्वयंज्योति है जिसे बाहर से प्रकाश की आवश्यकता नहीं। जिस स्वयंज्योति से वेद, कुरान प्रकट हुए, वह ज्योति उसके अंदर है। उसका ज्ञान मौलिक है क्योंकि वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

चेतन आत्मा की अनुभूति शब्द के माध्यम से, गुरु वचन के रूप में प्रकट होती है। अक्षर-वर्ण-लिपिबद्ध यह ज्ञान श्रुति ज्ञान है। इस प्रकार से सभी पुस्तकें ज्ञान हैं, पर फिर सभी पुस्तकें वेद क्यों नहीं ? भौतिक ज्ञान को लेखनीबद्ध करना सरल है, अलौकिक अथवा आत्मानुभव को नहीं।

अपौरुषेय ज्ञान (पराविद्या) की कोई भाषा नहीं, जिसका वर्णन वेद भी नहीं कर सके, बस, 'नेति-नेति' कहकर ही छोड़ दिया। वह ज्ञान इंगित मात्र गूंगे के गुड़ की तरह ही किया जा सकता है। भाषा भी तो इंगित है। यह ज्ञान

उसी को प्राप्त होता है, भाषित होता है जिसका अंतर दर्पण की तरह साफ हो जाता है और जो ज्ञानचक्षु से उसे प्रत्यक्ष देख लेता है। उसी का नाम साक्षी है गुरु साक्षी है। क्योंकि वह देख चुका है। पुस्तकों की भाषा अटपटी होती है परंतु जानता वही है जो इंगित के रास्ते पर ही चल देता है। साखी की आवश्यकता इसलिए है कि जिसका हम वर्णन करना चाहते हैं वह अवर्णनीय है। वर्णनातीत चेतन पुरुष बाहर नहीं है वह सभी जीवों के अंतर में बसा है। हम उसे एक और अनेक सभी रूपों में देखते हैं। जिज्ञासा हरेक हृदय में पैदा हो सकती है– जिसको एक बार यह महसूस हो गया कि वह भटक रहा है– प्रारब्धवश और गुरु कृपा से भी। पर विरह की चिंगारी जलाए बिना प्रीतम से प्रेम नहीं होता– उसके लिए मोहमाया में आग लगानी पड़ती है– अहंकार मिटाना पड़ता है। पर प्रश्न यहां प्राप्ति का है, प्रकट होने का है, अस्तित्व का नहीं। जो है वैसा ही रहता है, हाथ कंगन को आरसी क्या ! जो है उसे सिद्ध किया नहीं जाता, माना नहीं जाता, विश्वास करने की आवश्यकता नहीं। स्वयं प्रकाशित को प्रकाश नहीं दिखाया जाता– सूर्य को ढूंढने के लिए दीपक नहीं चाहिए। जो अंदर है उसे बाहर नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसे उधार की, नकल की क्या जरूरत। जो भी ज्ञान-विज्ञान है और होगा– चेतन स्वरूप के बिना उपलब्ध नहीं।

**मानव**

भौतिक धरातल पर मानव एक सामाजिक प्राणी है। एक व्यक्ति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व से अलग नहीं। आध्यात्मिक धरातल भी ऐसा ही है। यों तो बाहर से सभी प्राणी अलग-अलग घटों (देहों) में अलग-अलग मालूम होते हैं पर उनकी अंतरात्मा का स्वरूप एक ही जैसा है– जिस प्रकार अलग-अलग कुंओं का जल। अंतरात्मा ज्ञान स्वरूप है। कबीर ने जातिवाद पर कुठाराघात कर ज्ञान का स्रोत स्त्री-पुरुष सभी के लिए खोल दिया। इस प्रकार मानव मात्र के लिए मुक्ति का द्वार खुल गया, मानसिक अथवा आध्यात्मिक मुक्ति का।

*ताहि पुरुष की मैं बलिहारी निरालंभ जो होय*। कबीर के विचार मुक्त

विचार हैं, उसका ज्ञान मुक्तिदाता है। जो स्वयं बंधनमुक्त नहीं वह फिर भला किसे बंधनमुक्त कर सकता है ? मानवमात्र अपने संकल्प-विकल्प अथवा स्वनिर्मित मायाजाल में फंसा है। यही जीवन-मरण की चक्की का कारण है, जिससे बचकर कोई अक्षत नहीं निकलता है :

*चलती चाकी देख कर, दिया कबीरा रोय।*
*दोऊ पाटन के बीच में, साबत बचा न कोय।।*

कबीर मनुष्यमात्र के दुखों को देखकर रोता है और ऊंची आवाज में आह्वान करता है— तुम इस चाकी से बच जाओगे, गुरु की शरण आओ, खूंटे से लिपट जाओ। इसलिए ही कबीर को 'बंदीछोड़' कहा गया है, जिसका अर्थ है — जो जीव को बंदी अर्थात माया के कारागार से मुक्त कर देता है, अर्जन का मोह तोड़ देता है। अज्ञान अंधकार ही सबसे बड़ा बंधन (माया) है और दासता का कारण है। सभी दुखों का उद्‌गम भी यही है। पुण्य भूमि भारत में हजारों वर्ष तक एक महान जनसमूह को अनधिकारी कहकर ज्ञान के स्रोत से वंचित रखा गया। *स्त्री शूद्रो नाधीयताम्* का फतवा देकर शोषक प्रणाली ने भारत की 80 प्रतिशत जनता को विद्याध्ययन से वंचित रखा। यद्यपि हिंदू स्वयं दासता की चक्की में पिस रहे थे फिर भी पिछड़े वर्ग को उन्होंने बंधन मुक्त न किया। कबीर ने हिंदू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष सभी को बंधन मुक्त करने का बीजमंत्र दिया। कबीर संसार में पहला स्वतंत्रता सेनानी था जिसने मानवमात्र को भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी बंधनों को तोड़ने का मंत्र दिया। जात-पांत, भेदभाव, दासता और अज्ञानता एक सूत्र की लड़ी हैं। कबीर ने कह दिया, ऊंची आवाज में कह दिया, *बेद कतेब*— धर्मग्रंथ ज्ञान का स्रोत नहीं ; ज्ञान का स्रोत अंतरात्मा है जो स्व-संवेद है। किसी और के पीछे मत पड़ो। जो तुम्हें त्यागता है, उसे त्याग दो। जो तुम्हें पहचानता है— तुम्हारे अंतर में बसा है— उसे पहचानो :

*जो मोहि जाने ताहि मैं जानौं।*
*लोक वेद का कहा न मानौं।।*

यह बंधन जो जात-पांत के कारण पैदा हो गया था कबीर ने तोड़ डाला और झगड़ा ही मिटा दिया :

*पांच तत्व का पूतरा, रज बीरज की बूंद।*
*एकै घाटी नीसरा, बाह्मन, छत्री, सूद।।*
*विधि की इच्छा से भई, पहिले मानव जात।*
*हाथ पांव मुख जांघ ते, झूंठी जानौ बात।।*

कबीर ने मानवता को दासता के बंधनों से मुक्त करने का बीड़ा उठा लिया। यही कारण है कि उसके भक्त उसे 'बंदीछोर' कहकर पुकारते हैं और अपने बंधन छुड़ाने की प्रार्थना करते हैं। ज्ञान ज्योति जो अंधेरी कोठरी में बंद थी, कबीर ने उसे मुक्त कर दिया। वह घर-घर को प्रकाश देने लगी। स्वामी रामतीर्थ ने सत्य ही कहा है– *ब्रह्मविद्या से किसी को वंचित क्यों रखते हो– अज्ञान की अंधेरी कोठरियों और रसातल के लिए धिक्कार.... किताबों में छपा वेदांत जिसे दराजों में बंद कर दिया हो और कीड़ों ने खा लिया हो, कुछ काम का नहीं।* यही कथनी और करनी का भेद है। उन्होंने आगे कहा कि विवेकी पुरुष निर्भय होते हैं; फिर कहो तुम स्वयं बलशाली हो। परमात्मा जो तुम्हारे हृदय में सदा बसा है, शक्तिशाली है फिर भी मन निर्बल हो गया, बड़ा आश्चर्य है :

*मनवा तू तो सबल था, हलुकि अपनी चाल।*
*रंग कुरंगे रंगिया, किया और लगबार।।*

## भेद

माया का रूप बड़ा विकट है। दुनिया के सभी झगड़े माया और अज्ञान के कारण हैं। *महाठगिनी* माया अज्ञान-अंधकार फैलाने वाली है। माया के कारण ही मनुष्य अपना शुद्ध स्वरूप भुलाए रहता है। कबीर-सिद्धांत में आत्मा (चेतन पुरुष) और अनात्मा (जड़-प्रकृति-माया) ये दो सत्ताएं अनादि मानी जाती हैं। उसमें से चेतन आत्मा अनादि, अनंत प्रकाश स्वरूप, स्वयं प्रकाशित (स्व-संवेद) है और माया (प्रकृति), अनादि सांत और अप्रकाश-रूप कही गई है। आज के दर्शन में भी दो ही तत्व चेतना और पदार्थ माने गए हैं जिन्हें प्रकृति पुरुष भी कह सकते हैं। चेतना व्यापक और बंदी भी हो सकती है पर तात्विक रूप से दोनों में कोई अंतर नहीं। हर जीव में वह चेतना अंतर्ज्योति

अथवा स्वयं ज्योति (अंतरात्मा) के रूप में विद्यमान है, वह स्व-संवेद और प्रकाशवान है। अंतर्चेतना-आत्मा अथवा सर्वव्यापी चेतन-परमात्मा में कोई तात्विक अंतर नहीं है। माया की सत्ता चेतना से अलग नहीं है क्योंकि वह चेतनाधीन है। माया के तीन गुणों से मिलकर चेतना, मन (बुद्धि, चित्त, अहंकार) की चौपड़ तैयार करती है। मन (निरंजन) से इच्छा, एक से अनेक होने की इच्छा *एकोऽहम् बहुस्यामि* पैदा होती है और इस प्रकार यह मायाजाल बढ़ते-बढ़ते उलझी रस्सी की तरह हो जाता है जिसका सिरा नहीं मिलता और फिर चेतन आत्मा भ्रम में फंसकर अपने को भूल जाती है। यही कारण है जीव सदा-सदा से अनेक योनियों में भ्रमणशील है, भटक रहा है। उसकी स्वतंत्रता उसके स्वनिर्मित बंधनों ने छीन ली और मानव को दासता में जकड़ लिया। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दासताओं का कारण एक ही है— आत्म-सम्मान का कम हो जाना, अपने स्वरूप को भूल जाना।

**साधन**

मानव की अथक साधना से यह अति साधन युक्त शरीर मिला है। यह आत्मा नहीं पर आत्मा (चेतना) की कृति है। यह उसकी मुक्ति का कारण बन सकती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि यह मानव शरीर अनुमूलन की पराकाष्ठा है, विधि की अमूल्य देन है। मनुष्य को 'अशरफ-उलमखलूकात' (भगवान की श्रेष्ठतम कृति) भी कहा गया है— इस कृति को खुदा की दी हुई रूह (आत्मा) का नूर मिला है। इस जीवन का कुछ न कुछ मूल्य है— इसे यों ही नष्ट न कर देना चाहिए :

*मानव जन्म दुर्लभ है, बहुरि न दूजी बार।*
*पका फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार।।*

अपनी बंधन-मुक्ति और परमार्थ अथवा औरों की मुक्ति की साधना के लिए शरीर मिला है। सभी जीवों में एक ही प्राण है। अतः एक का दुख दूसरे का दुख होना चाहिए :

*कहै कबीर कुछ उद्यम कीजै, आप खाव औरों को दीजै।*
*जीव दया और आतम पूजा, इन सम देव अवर नहीं दूजा।।*

स्वनामधन्य कबीर ही ऐसे थे कि उन्होंने भगवान की उस कृति को यों ही नष्ट न किया वरन उपयोग करके ज्यों का त्यों वापस कर दिया— *दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों रख दीनि चदरिया।*

यह सुंदर चदरिया (देह) यों ही नष्ट न हो जाए, फिर नहीं मिलेगी। इसलिए इसे साधन में लगा दीजिए, अज्ञान अंधकार दूर हो जाएगा— माया छूट जाएगी। जन्म-मरण कष्ट का कारण है पर यह तो तब अवश्यम्भावी है, जब गल की फांसी अर्थात इच्छा बीज नष्ट नहीं हो जाता। फिर इसमें ज्ञानी लोगों को दुख उठाने की आवश्यकता नहीं। जो हम करते हैं उसी का फल हमें भोगना पड़ता है। देह धारण किया है तो कष्ट भी भुगतना पड़ेगा :

*देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।*
*ज्ञानी भुगते ज्ञान से, मूरख भुगते रोय।।*
*कबिरा मैं तो तब डरों, जो मोही में होय।*
*मीच बुढ़ापा आपदा, सब काहू में होय।।*
*बंदे क्यों करनी करे, क्यों करके पछताय।*
*बोये पेड़ बबूल के आम कहां ते खाय।।*

**सिद्धांत**

कबीर साहेब ने शुद्ध चेतन निविशेष आत्मतत्व का सही-सही विवेचन किया है। शब्द किसी अर्थ को जाति, द्रव्य (रूढ़ि), गुण और क्रिया इन चार प्रवृत्तियों का सहारा लेकर ही कहने के लिए समर्थ होता है। परंतु आत्मतत्व को कहने में, मन और वाणी दोनों ही उपरत हो जाती हैं।

*यतो वाचो- निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह।*

फिर उस तत्व का कैसे वर्णन किया जाए जिसे कबीर ने *गूंगे का गुड़* कहा है — *को धरे नाम हुकम को बरना* और जिसे वेदों ने भी *नेति नेति* कह कर छोड़ दिया।

एक ही तत्व को कभी-कभी अलग-अलग संप्रदाय अलग-अलग नाम से पुकारते हैं, पर लक्ष्य एक ही होता है— लड़ाई केवल मूर्खों की है :

*समझे की मति एक है– जिन जाना सब ठौर।*

★ ★ ★

*रुचीनां वैचित्र्यादृजुटिकुल नाना पथ जुषाम्*
*नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।*

(शिव महिम्नस्तोत्रम्)

यहां भिन्न-भिन्न रुचियों का प्रश्न नहीं है। यहां है प्रश्न उस गम्य का जिस मंजिल पर सभी को पहुंचना है, उसी का नाम सत्य है :

*को धरे नाम हुकुम को बरना।*

सभी के अंदर विद्यमान होते हुए भी जिसे प्राणी नहीं जानते और जिसके सब प्राणी शरीर हैं *वही अविनाशी आत्मा अपना अंतर्यामी है :*

*या: सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योगन्तरोयं*
*सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं य:*
*सर्वाण भूतान्यन्तरो यमयत्येवत आत्मन्तर्याम्यमृतं'*

(वृहदारण्यक)

एक ही तत्व माया रूप उपाधि के कारण ईश्वर और अविद्या से जीव कहा जाता है :

*नारी एक पुरुष दोय आया, बूझहु पंडित ज्ञानी*

इसके बाद रज-सत्व और तमोगुण आदि की प्रधानता के कारण, ब्रह्मा, विष्णु और महादेव की सृष्टि हुई। *कैवल्य श्रुति* कहती है:

*स ब्रह्मा स विष्णु स रुद्रश्चति*

परमात्मा परमज्योति स्वरूप है, वह अपने अंदर ही खोजा जा सकता है– *परम ज्योति पुरुषोत्तमा जाके रूप न रेख– वह अकाल काल नहीं वाकै, न कहूं गया न आया।* वह न मरता है, न जीता है। न वह अवतार लेता है न किसी को मारता है– ये सभी माया के खेल हैं। वह तो नित्य अपने पास है :

*जल में कुंभ कुंभ में जल है*
*बाहर भीतर पानी।*
*फूटा कुंभ जल जलहि समाना,*
*यह तथ कथौ गियानी।*
*खालिक खलक खलक में, सब घट रहयौ समाहि।*
*तरवर एक मूल बिन ठाड़ा, बिन फूल फल लागै।*
*साखा पत्र कछु नहीं वाके, सकल कमल दल गाजै।*
*चढ़ तरुवर दो पक्षी बोले, एक गुरु एक चेला।*
*चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरु निरंतर खेला।*
*पक्षी के खोज अगम परगट, कहै कबीर बड़ी भारी।*
*सबकी मूरत बीज अमूरत, मूरत की बलिहारी।*

**यथार्थवाद**

आत्मतत्व सत्य ज्ञान के बिना प्राप्त नहीं हो सकता और साधना अथवा प्रयत्न इसकी सीढ़ी है जिसे कबीर ने करनी कहा है। करनी ही से रहनी अथवा स्थिति पैदा होती है और स्थिति से ही सत्य का प्रकाश होता है। उसके जानने पर और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही समझना यथार्थ ज्ञान है। अपने स्वरूप से परे ईश्वर और नाना देवों की सत्ता मानना और उनकी उपासना तथा अनात्मज्योति और भौतिक ज्योति आदि की उपासनाओं का कबीर ने निषेध किया है :

*आपु आपु चेते नहीं, कहौ तो रुसवा होय।*
*कहहि कबीर जो सपने जागे, अस्ति निरास्ति न होय।।*
*एक कहौ तो है नहीं– दो कहौ तो गारि।*
*जैसे का वैसा रहे, कहै कबीर विचारि।*

यही अंतर्ज्योति चेतना रूप हर जीव में छिपी है। जीव का गुण चेतना है :

*जागृत रूपी जीव है शब्द सुहागा सेत*

**शब्द**

शब्द को ही शब्द-ब्रह्म कहा गया है। कबीर ने इसे 'सार शब्द' कहा है। सार शब्द (आदि शब्द) ही वह सत्य लोक है जहां से जीव आया है। कबीर उसी सार शब्द का संदेश लेकर आए हैं। उस देश में जात-पांत, देवी-देवता-पंच तत्व, पृथ्वी और आकाश, सूर्य और चंद्र, दिन और रात्रि कुछ भी नहीं है। उस अमर लोक से वे एक संदेश लेकर आए हैं जो उनके शहंशाह बाप सत्पुरुष का संदेश (हुक्म) है :

*कहंहि कबीर तहां से हम लाये यह सन्देसवा।*
*सार शब्द को गहि करके, चलो वही देसवा।।*
*शब्द हमारा आदि का, शब्दै पैठा घीव*
*धूल रहनि की टौकरी, धौरै लाया घीव।*

सार शब्द भाषातीत है। वही अवगत है, विदेह है उसी का नाम शब्दब्रह्म है।

*अक्षर परमोनादः शब्द ब्रह्मोति कथ्यते* (योग शिखोपनिषद)। इसी का नाम सार शब्द, आदिनाम और सत्नाम है जो आदि पुरुष अथवा जीव के आदि अमर स्वरूप को बताता है :

शब्द शब्द बहु अन्तरा, वो तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरख परख करि लेह।

*सार शब्द विदेह स्वरूपा, निर अक्षर वह रूप अनूपा*— इसी सार शब्द को स्वसंवेद भी कहते हैं। जिस अमर लोक आदिपुरुष का रूप वर्णन शब्द करता है वह महानिर्णायक है। *जासो नाता आदि का विसरि गया सो ठौर*। कबीर कहते हैं कि स्वसंवेद मेरा ज्ञान है— मैं स्वसंवेद में रहता हूं। जिस पराविद्या में मैं निवास करता हूं उसे चारों वेद (संहिता) नहीं जानते हैं :

*वेद हमारा भेद है, हम वदन के मांहि।*
*जोन वेद में हम बसैं, वेदौ जानत नाहिं।।*

सार शब्द निर्णायक है। इसी को आदि ब्रह्म कहते हैं जो निरंजन से

पहले था वही आदि पुरुष है– अजर, अमर, निर्लेप, निराकार-गुणातीत, अविगत है। जो उस समय था जब न सृष्टि थी, *न सिरजन हारा* था। कबीर इसीलिए जीवों को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, महामाया, अष्टांगी और निरंजन के परे आदि पुरुष और अमर लोक का उपदेश देते हैं :

*सरगुण निरगुण से परे तहां हमारा ध्यान।*

**साखी (गुरु)**

गुरु साखी है। जो अवर्णनीय है उसके लिए साखी की आवश्यकता है। गुरु ने देखा है, वह दृष्टा है। उसने दिव्य दृष्टि से देखा है, किताबें पढ़कर नहीं :

*लिखा पढ़ी की है नहीं, देखा देखी बात।*
*दूल्हा-दुलहिन मिल गए, फीकी पड़ी बरात।।*

कबीर आंखों देखी कहता है। *तू कहता पुस्तक की लेखी, मैं कहता आंखों की देखी* :

*बिन देखे उस देस की बात कहै सो कूर।*
*आपे खारी खात है, बेचत फिरत कपूर।।*

मंजिल चले बिना नहीं मिलती। अपनी मंजिल स्वयं प्राप्त करनी होती है। गंतव्य एक है पर रास्ता सबका अपना-अपना है। गंतव्य तक पहुंचना है, स्वयं या गुरु के द्वारा। मंजिल पाव कोस दूर है, पर पहुंचने में जन्म-जन्मांतर लग सकते हैं, अगर साखी न हो– जिसने रास्ता देखा है। पुस्तकों का ज्ञान परोक्ष है, धुंधला है– *अंध सो दरपन वेद पुराना।* इसलिए गुरु का सहारा आवश्यक है जिसका अनुभव व्यावहारिक हो। गुरुमंत्र लेकर आगे बढ़ना पड़ता है– जब तक गंतव्य प्राप्त न हो जाय। चरैवैति-चरैवैति– चलते रहो, चलते रहो, यह निश्चय लेकर साधक (साधुजन) चलते रहते हैं, *साधु रमंते* ठहरते नहीं। यही भक्ति है। विरह, प्रेम, बलिदान और मिलन इसकी घाटियां हैं। भक्ति का अर्थ बहना है, तेजी से बहना है। बहता जल शुद्ध होता है जितनी गहनता और तीव्रता होगी उतनी ही शुद्धता होगी।

शुद्धता के लिए गंगा है, वैतरणी गंगा। जिसमें नदी-नाले मिलकर शुद्ध हो जाते हैं, सतगुरु भी वही है। वही कबीर है— महान है— तीव्र प्रतिभावान है, गंगा की भांति। श्रद्धावान गुरु प्रवाह में लीन होकर शुद्ध चैतन्य को प्राप्त कर गुरु पद प्राप्त कर जाते हैं। मिलन के बाद कौन कहता है, नाला गंगा नहीं था :

*एक नदिया एक नार बहत, मैलो नीर भर्‌यौ।*
*जब दोनों मिल एक वरन भये-सुरसरि नाम धरयौ।*
— सूरदास

पर गंगा कब कहती है कि आओ मुझ में मिल जाओ। सब जल गहराई की ओर दौड़ता है। संत की प्रतिभा ही श्रद्धावान जिज्ञासुओं का मन हर लेती है। गंगा का अर्थ ही है गुनगुनाती मधुर ध्वनि, वही सत्‌वाणी है जिसके प्रभाव से कोई नहीं बच सकता— कृष्ण की वंशी की तरह :

*पानी पियावत क्या फिरै, घर-घर सायर बारि।*
*श्रद्धावंत जो होयगौ, पीयेगा झक मारि।।*

पर यह गंगा तो सब जीवों की अंतरात्मा (प्राण) है— उसे कहीं बाहर नहीं ढूंढना है सिर्फ अंतर की गहराई में उतरना है। मगर यह उल्टी गंगा है। प्रियतम का घर शिखर है जहां रास्ता कठिन है, धीरे-धीरे मंद गति से पैर संभाल कर चलना होगा। आडंबर माया-मोह की गठरी (पाप की गठरी) उतार कर फेंक देनी होगी। अहंकार को नष्ट कर देना होगा। विद्या, धन, शक्ति का अहंकार छोड़ देना होगा तक कहीं ऊंचे शिखर पर पहुंचा जा सकेगा, जहां प्रीतम की सेज है। तभी मिलन होगा :

*कबीर का घर सिखर पर, जहां सिलहली गैल।*
*पांव न टिकै पिपील का, खलकन लादे बैल।।*

**सहज ज्ञान**

यह सब सहज-सहज में होगा। जल्दी और हठ करने से काम न चलेगा। सुरति निरति को साध कर चलना होगा— शब्द सुरत का संयोग

करना होगा :

*काहे को कलपत फिरै, दुखी होत बेकार।*
*सहजै सहजै होयगा, जो रचिया करतार।।*
*धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।*
*माली सीचै सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।*

सहज ध्यान को ही सहज योग कहते हैं। उसमें हठयोग, ऋद्धि-सिद्धियों का कोई स्थान नहीं। सहज योग 'सुख' का संयोग है। इसी से मनुष्य स्वयं सिद्ध हो जाता है :

*सुरति समानी निरति में, अजपा मांहै जाय।*
*लेख समाना अलेख में, यौं आया माहै आय।।*
*जागृत रूपी जीव है शब्द सुहागा सेत।*
*जर्द बूंद जल कुकुही कबीर कोई देख।।*
*शब्द हृदय सुरति आंधरी, कहो कहां को जाय।*
*द्वार न पावै शब्द का, फिर फिर झटका खाय।।*

शब्द वही अनहद नाद है जो नित्य बज रहा है, जो जीव को जगाता रहता है। जरा अंतर में झांक कर तो देखो, सुनाई देगा। यह नाद (शब्द) अमर है और सभी को सुनाई दे सकता है।

**महात्राण**

कबीर ने अब से लगभग छह शती पूर्व आधुनिक स्वतंत्र विचार, तर्कसंगत और वैज्ञानिक दर्शन का प्रतिपादन कर, मनुष्य को उसके सभी अज्ञानमूलक बंधनों से मुक्त कर दिया। एक सीधा सादा, अनपढ़ जुलाहा अगर ऐसा काम कर दे, क्या यह एक अभूतपूर्व और अनहोना चमत्कार नहीं था, कबीर ने ही आत्मतत्व, जो सत्य और सहज प्राप्त है, को खोजने की राह दिखाई। इस प्रकार उसने मानवता को उसके महा कारावास से मुक्त करने का प्रयास किया। कबीर के सिद्धांत और उच्चादर्श से अनभिज्ञ आलोचकों ने उस पर और उसकी वाणी पर नाना प्रकार के दोषारोपण किए हैं।

कबीर ने राम नाम और सत्य नाम में कोई भेद नहीं किया। वह स्वामी रामानंद से स्थूल राम का मंत्र लेकर सत्य नाम और फिर सत्पुरुष में लीन हो गए— भेद मिट गया; नाम रूप मिट गया और फिर सत्य ही सत्य-सार-शब्द रह गया :

*एक राम दशरथ का प्यारा, एक राम का सकल पसारा।*
*एक राम घट घट में छा रहा, एक राम दुनिया से न्यारा।।*

उन्होंने इन भिन्न-भिन्न रामों का अपनी ज्ञान चर्चा में भिन्न-भिन्न नामों से परिचय कराया है और अंततः दुनिया से न्यारे सत्नाम सत्पुरुष का दिग्दर्शन करा कर माया के कारागार से छुटकारा दिला दिया। उन्होंने वह बानी कही जो किसी ऋषि पैगंबर ने पहले नहीं कही। उनका हुक्म था कि संसार के सभी दर्शन, मत-मतांतरों से पक्षपाती होकर मत देखो, उससे परे देखो :

*अहिया किरतम ना हुआ, धरती हवी न नीरा।*
*उत्पत्ति परलय ना हवी, तब की कहै कबीरा।।*

उसके स्वसंवेद स्वरूप की लाली ही उसे लाल गुलाल करने लगी थी। इसी का नाम साक्षात्कार है। यही भक्ति की पराकाष्ठा है :

*लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।*
*लाली देखन मैं चली, हो गई लाल गुलाल।।*

संसार सागर से परे माया से मुक्ति का आह्वान उन्होंने किया। मुक्ति ज्ञान से सभी ज्ञान सहज सुलभ है। मनुष्य का पहला उद्देश्य अपने स्वतंत्र मूलभूत शुद्धचेतना की प्राप्ति है। दूसरे बंदी जीवों को चेताना, ज्ञान प्रदान करना तथा बंधनमुक्त करना है। इस चेतावनी को कबीर ने मूल अथवा आदि वाणी कहा है। उसी का नाम *पूर्वी वाणी* है :

*बोली हमारी पूर्व की, हमें लखै नहीं कोय।*
*हमको तो सोई लखी, जो धुर पूरब का होय।।*

इस प्रकार कबीर राम भज कर राममय हो गए, उन्होंने सुख सागर

पा लिया, मन स्थिर हो गया, मनसा-लहरी लीन हो गई— *मनसायर मनसा लहरि मत तु भ्रम भुवाल*। जब राम नहीं मरता तो संत कैसे मरेगा। मरती है माया, जिसके मरने से आनंद प्राप्त होता है :

*जाहि करने से जग डरै, ताहि मेरे आनंद*

परंतु जिसे इस प्रकार अमर मूल मिल गई, उसे इस सिद्धि के द्वारा बुद्धि–दर्पण में सत्य ही सत्य का दर्शन होता है। उसका जीवन मरण छूट जाता है :

*हम क्यों मरे मरे संसारा।*
*हमको मिला जिलावन हारा।।*
*हरि मरि है तो हम हूं मरि हैं।*
*हरि न मरे हम काहै को मरि हैं।।*

कबीर को उस सत्य के दर्शन हो चुके थे, जिसे वे छू सकते थे, महसूस कर सकते थे। नाम रटने से क्या लाभ था। *जिनकु कछु ना चाहिए वे ही साहंसाह*। उनकी आशा-तृष्णा मिट चुकी थी जो जीवन-मरण का कारण है— जब वे अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो गए तो नाम और रूप दोनों मिट गए। फिर सत्य ही सत्य रह गया, भेद मिट गया। उनके लिए हिंदू-मुसलमान न रहा, वेद-कुरान न रहा, वे उस अवस्था से ऊपर उठ चुके थे :

*वेद कतेब दोऊ छंदवाड़ा।*
*ते फंदे पर आप विचारा।।*
*हिंदू तो मैं हूं नहीं, मुसलमान भी नाहि।।*
*पांच तत्व का पूतला, जैबी खेलत माहि।।*

और फिर माया छूट गई :

*यै मर जीवा समुद का, डुबकी लाई एक।*
*मुट्ठी लाया ज्ञान की, आक रत्न अनेक।।*
*डुबकी मारी समुद में, निकसा जाय आकास।*
*गगन मंडल में घर किया, हीरा पाया दास।।*

उनका राम दुनिया से न्यारा है, तो दुनिया की सभी मान्यताएं पीछे छूट गईं। वह उस राम के पुजारी हैं जो तब था जब न ईश्वर था न उसकी सृष्टि, अजर-अमर, निर्लेप, निरक्षर राम, आदिनाम, आदिं पुरुष, सत्‌नाम ही उनका राम था। इसलिए उन्होंने कहा :

*सुरजन मुनिजन औलिया, यह सब उरली तीर।*
*अल्लाह राम का गम नहीं, तंह घर किया कबीर।।*

और फिर :

*काबा फिरि काशी भया, रामहि भया रहीम।*
*मौट चून पैदा भया, बैठ कबीर नीम।।*

कबीर सभी मायाजाल (निरंजन) के विस्तार को लांघ कर वहां पहुंच गए, जहां वे आदि में थे। वह उनका देखा हुआ था किसी की नकल नहीं थी। वह तो पढ़े-लिखे भी नहीं थे और न ही वाणी का बोझा उठाया था। जो कुछ भी उनके पास था, सहज सरल भाव से था :

*मसि कागद छूवो नहीं, कमल गही नहीं हाथ।*
*चारिक गुंग का महातम, मुखहि जनाई बात।*

उन्होंने सत्य से साक्षात्कार कर लिया था। इसलिए वे साखी-सद्‌गुरु का पद प्राप्त कर गए :

*साखी आंखी ज्ञान की, समुझ देख मन माहिं।*
*बिन साखी संसार का, झगड़ा छूटत नाहिं।*

*संत ही साखी होते हैं। उनके बिना संसार में शांति की स्थापना नहीं होती :*

*आग लगी आकाश में झरफर पड़े अंगार।*
*जो संत न होते जगत में जल जाता संसार।।*

माया साक्षात्कार के बाद ही मरती है। विरह, जिज्ञासा, गुरु, चिनगारी (मंत्र) और गुरु चिनगारी से आग लग जाती है। माया जब जल जाती है, मन

निर्मल हो जाता है। सत्य का प्रकाश हो जाता है। यही कबीर का केवल्य ज्ञान है जिसको समझना सरल नहीं।

उनका आखिर मोह भी घट गया। जो स्वयं कर्त्ता है वह सदा अपनी कृति से बड़ा है :

*झगड़ा एक निवारहु राम, जो तुम्हें अपने जग से काम।*
*ब्रह्मा बड़ा कि जिनने उपाया, वेद बड़ा कि जहां से आया।।*
*यह मन बड़ा कि जाही मन जाने, राम बड़ा की रामहि जाने।*
*कहें कबीर हौं भया उदास, तीरथ बड़ा की हरि का दास।।*

कबीर स्वयं कबीर (महान) है। उससे बड़ा कौन है जो अपने स्वरूप में स्थिर हो गया हो उसकी झूठी माया, झूठे विचार नष्ट हो गए, सभी मत-मतांतर, धर्म-दर्शन मिट गए, कृत्रिम का स्वप्न टूट गया।

यही ज्ञान मुक्ति है। ज्ञान मुक्ति के अलावा जीव के लिए और कोई मुक्ति नहीं। सारा संसार इसी भाव को ग्रहण करता जा रहा है। कबीर ने इसे छह शताब्दी पहले ही बतला दिया था। कबीर का ज्ञान कितना गहन, कितना सरल था। उनके लिए संसार हथेली का आंवला था। भाषा उनके लिए मनोरंजन का साधन थी। दर्शन ज्ञान उनके लिए बच्चों का खेल। उन्होंने सारे संसार को भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक बंधनों से मुक्त कर दिया।

# कबीर के इष्ट का स्वरूप

*डॉ. दिनेश दीक्षित*

कबीर साहित्य का अध्ययन करते समय प्रत्येक अध्येता के सामने एक प्रश्न आता है कि कबीर का इष्ट कौन है ? उसका स्वरूप कैसा है ? कबीर ने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर राम की दुहाई दी है। वह सभी स्थितियों में राम का ही अवलंब ग्रहण करते दिखाई देते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका इष्ट राम के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं। लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि कबीर जिस राम की बारंबार दुहाई देते नहीं थकते वह राम हैं कौन ? परमब्रह्म, ईश्वर अथवा और कुछ ? इसमें कोई संदेह नहीं कि हरि, गोविंद, राम, केशव, माधव आदि पौराणिक नामों को कबीरदास ने शायद ही सगुण अवतार के अर्थ में व्यवहृत किया हो। लेकिन जब वह अपने परम आराध्य देव को इन नामों से पुकारते हैं तब तो किंचित रूप में भी इसका तात्पर्य सगुण अवतारों से नहीं होता। वह स्पष्ट करते हैं— *दशरथ सुत तिहु लोक बखाना, राम-नाम का मरमु न जाना।* इससे स्पष्ट है कि कबीर जब राम का नाम लेते हैं तब उनका तात्पर्य पौराणिक दशरथ के पुत्र राम से नहीं होता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के इष्ट को रूपायित करते हुए लिखा है— *उनका 'अल्लाह' निरंजन देव है जो सेवा से परे है ; उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रूप में विस्तृत है ; उनका 'गोविंद' वह है जिसने ब्रह्मांड को धारण किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्व है; उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाजों को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है; 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है; 'गोरख' वह है जो*

*ज्ञान से गम्य है; 'महादेव' वह है जो मन की जानता है। अनंत हैं उसके नाम, अपरंपार है उसका स्वरूप।* [1]

स्पष्ट है कि कबीर का ऐसा इष्ट— राम, ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं। और ब्रह्म अपने आप में निर्गुण है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उनका इष्ट 'निर्गुण राम' है। संत कबीर के मतानुसार 'निर्गुण राम' केवल मानसिक चिंतन द्वारा ही प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि मन स्वतः विकारी है और उसके स्वरूप का निर्माण गुणों के संयोग से होता है। इस प्रकार निर्विकार और निर्गुण ब्रह्म को विकारयुक्त मन और वाणी प्राप्त नहीं कर सकते। निर्गुण ब्रह्म शाश्वत एवं नित्य है जबकि जगत के व्यवहार क्षणिक और अनित्य हैं। अतः अनित्य व्यवहारों से नित्य ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके, इसका प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। आगम और निगम व्यावहारिक ज्ञान के ही रूप हैं। अतः अव्यवहार्य ब्रह्म को इनके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। संत कबीर का यह दृढ़ विश्वास है कि निर्गुण, ब्रह्म, जीव एवं जगत में भेद नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही अद्वैत सत्य है। क्योंकि द्विधात्मक विकारों का इसमें एकांतिक अभाव है।

निर्गुण ब्रह्म माया से रहित है। उसकी प्राप्ति दुःसाध्य है, क्योंकि प्राप्ति किसी आकार, रूप अथवा नाम की ही हो सकती है। निर्गुण ब्रह्म में नामरूपों का अभाव है। अतः संत उसके स्वरूप को मनवाणी द्वारा उपलब्ध होने योग्य नहीं मानते।

कबीर का यह विश्वास है कि शंकर जैसे अचल साधक भी निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते। इंद्र और ब्रह्म भी उसको नहीं जान पाते; ऐसा वह 'राम' ज्ञान-ज्ञेय भाव से पृथक, अद्वैत और अनिर्वचनीय है :

*कितेक सिव संकर गए ऊठि।*
*राम समाधि अजहूं नहीं छूटि।।*
*ब्रह्म खोजि पर्यो गहिनाल।*
*कहै कबीर वै राम निहाल।।*

---

1 *कबीर* : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 126-27

इतना ही नहीं, कबीर ब्रह्म को चिंतन के क्षेत्र से भी बाहर मानते हैं। ऐसा निर्गुण ब्रह्म संत कबीर की साधना का एकमात्र लक्ष्य है। वह सर्वव्यापी है और स्वयं सृष्टि-पदार्थों के रूप में व्यक्त नहीं है। इतना होते हुए भी समस्त पदार्थ उसी की सत्ता को व्यक्त करते दिखाई देते हैं। माया के आवरण के कारण वह गुप्त रहता है और विवेक द्वारा उसकी सत्तानुभूति होती है। वह निराकार ब्रह्म आत्मारूप में समस्त इंद्रियों का आश्रय है। शास्त्र, विद्या तथा पारस्परिक वाद-विवाद द्वारा ब्रह्म का निर्णय एवं कथन नहीं किया जा सकता।

कबीर का *निर्गुण राम* वस्तुतः शंकर के निरुपाक्षेक ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसके इस स्वरूप में कार्य-कारण भेद नहीं है। जीव, जगत और प्रकृति सब उसी में अंतर्निहित हैं। त्रिगुणात्मक आकारों में व्यक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश उस ब्रह्म के ही रूप हैं :

*अच्यंत च्यंत ए माधौ सौ सब मोहि समांनां।*
*प्रकट गुपत पुनि प्रगट सो कत रहै लुकाई।*
*कबीर परमानंद मनाए, अकथ कथ्यो नहिं जाई।*
*रज गुन ब्रह्मा, तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई।।*

संत कबीर का ऐसा विश्वास है कि सत, रज और तम इन तीनों गुणों का अधिष्ठान ब्रह्म में ही है। उनके अनुसार अकथनीय ब्रह्म में ही उपाधि का कथन और आरोप होता है। समष्टि और व्यष्टि, सामान्य और विशेष दोनों ही उसके स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पाते। निर्गुण ब्रह्म भाव और अभाव से रहित है। अतः वह न तो भाव रूप ही है और न ही अभावरूप। मन और बुद्धि के द्वारा उस ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही चैतन्य रूप में जड़ पदार्थों और निमित्त एवं उपादानों में गतिशील रहता है। ब्रह्म अजर और अमर कहा गया है। ब्रह्म अलख है। साधारण प्राणी, बुद्धि और इंद्रियों द्वारा उसको लक्ष्य नहीं कर सकता। उसका न कोई रूप है और न ही कोई वर्ण। दशरथ पुत्र राम की कथा तीनों लोकों में प्रचलित है। लेकिन निर्गुण राम का रहस्य अवतार भावना

में प्रसिद्ध स्वरूपों से भिन्न है। वस्तुतः कबीर का निर्गुण राम— ब्रह्म— न सूक्ष्म है और न ही स्थूल। उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न ही नाश। उसका कथन जैसा वाणी द्वारा होता है वैसा वह नहीं है। वह तो वस्तुतः जैसा है, वैसा ही है :

*अलख निरंजन लखे न कोई।*
*निरभै निराकार है सोई।।*
*सुनि अस्थूल रूप नहिं रेखा।*
*दिष्ट अदिष्ट छिप्यौ नहीं पेखा।।*
*बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई।*
*सकल अतीत घट रहयो समाई।*
*अपरंपार उपजै नहि विनसै।।*
*जुगति न जानियै कथिये कैसे।।*
*जस कथिये तस होत नहिं जस है तैसा सोइ।*
*कहत सुनत सुख उपजै अस परमारथ होइ।।*

इसमें कोई संदेह नहीं कि जब कबीर निर्गुण ईश्वर का स्मरण करते हैं तो उनका एकमात्र उद्‌देश्य यही होता है कि ईश्वर के सगुण रूप की कल्पना उन्हें मान्य नहीं है। लेकिन यहीं यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कबीर ने निर्गुण से केवल निषेधात्मक भाव ही ग्रहण नहीं किया है। वस्तुतः वह भगवान को तीनों गुणों— सत्व, रज एवं तम से असंपृक्त मानते हैं। वह ऐसे गुणातीत निर्गुण की व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'हे संतों, मैं धोखे की बात किससे कहूं। वस्तुतः गुण में ही निर्गुण है और निर्गुण में ही गुण समाया हुआ है। लोग उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं, पर असल बात कोई नहीं कहता। वस्तुतः वह अलख है, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण धोखे के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है, लेकिन इससे भी अधिक सत्य तो यह है कि वह घट-घट में समाया हुआ है। उसे पिंड और ब्रह्मांड में व्याप्त कहा गया है। इससे उसका

सही परिचय तो मिलता है, लेकिन यह भी सत्य है कि वह पिंड से भी परे है। कबीर कहते हैं कि उनका इष्ट अगुण और सगुण दोनों से ऊपर है। अजर और अमर दोनों गुणों से रहित है, अरूप और अवर्ण की कल्पना उसके आगे निरर्थक हो जाती है :

*संतो धोखा कासूं कहिए।*
*गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छांड़ि क्यूं बहिए।*
*अजर-अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई।*
*नाति-स्वरूप-बरण नहि जाके घटि-घटि रहयौ समाई।।*

वस्तुतः कबीर का इष्ट अपने आप में इतना विलक्षण है कि उसके आगे सभी प्रकार के मापदंड बेकार हो जाते हैं। उसे न तो किसी के भीतर ही कहा जा सकता है और न बाहर ही। इसका मूल कारण यह है कि वह बाहर से भीतर तक इस प्रकार व्याप्त है कि उसको किसी भी प्रकार समझाया नहीं जा सकता। व्याख्या का विषय वही हो सकता है जो भावात्मक अथवा अभावात्मक हो, लेकिन जो भाव एवं अभाव दोनों से परे है— *भावाभाव विनिर्मुक्तः* है, उसको व्याख्या का विषय भला बनाया भी किस प्रकार जा सकता है :

*कह्यां न उपज उपजां नहि जाणैं भाव अभाव बिहूनां।*
*उदै अस्त जहां मति बुधि नाहीं सहजि रोम त्यौ लीनां।।*

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में — *इसे ठीक-ठीक कहकर नहीं समझाया जा सकता। यह पूर्ण का पूर्ण दृष्टि से पूर्ण का ही देखना है। वह अद्वैतवादी की भांति चिदात्मक ब्रह्म-सत्ता में चैतन्य का विलाप नहीं है, बल्कि जैसा कि स्वयं कबीर ने ही कहा है, सहज-भाव से एकमेक होकर राम से मिल जाना है। सहज भी ऐसा 'सहज' नहीं— परम प्रेमाश्रय भगवान से सहज ही मिल रहना सहज है।*[1]

स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का इष्ट वह 'निर्गुण राम' है जो

---

1. *कबीर* : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 133

त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्भाव, प्रेमपारावार है। कबीर का यह इष्ट अनुभव का ही विषय है अनुभूति का नहीं। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए कबीर ने उसे बार-बार *गूंगे का गुड़* कहकर स्मरण किया है :

*अविगत अकथ्य अनूपम देख्यां, कहत कह्या न जाई।*
*सैन करै मन ही मन रहसैं, गूंगे जानि मिठाई।।*
*अकथ कहाणी प्रेम की कछु कही न जाई।*
*गंगे केरी सरकरा बैठे मुसुकाई।।*

वस्तुतः कबीर ने अपने इष्ट को अनेक रूपों में देखा है इसलिए उसकी संश्लिष्ट अनुभूति ही उनके अंतकरण में समाई हुई है। यह संश्लिष्ट अनुभूति इतनी गहन एवं व्यापक है कि कबीर को कभी भी इस प्रकार की अनुभूति नहीं हो पाती कि उनके इष्ट का अमुक स्वरूप अपने आप में पूर्ण है। यह बात तो स्पष्ट हो चुकी है कि उनका इष्ट कोई और नहीं— निर्गुण राम है और यह निर्गुण राम ब्रह्म से इतर नहीं। अतः जिस ब्रह्म को उपनिषद भी *नेति-नेति* कह चुके हैं, उसके स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति कबीर भी किस प्रकार कर पाते। इससे स्पष्ट है कि कबीर के राम सगुण भक्तों के राम से भिन्न हैं। इन दोनों में मूल अंतर यही है कि कबीर के राम अवतारी दाशरथि राम नहीं हैं। जिस प्रकार सगुण भक्तों ने राम के ब्रह्मत्व को स्वीकार करते हुए भी दाशरथित्व रूप को ही विशेष महत्व प्रदान किया है उसी प्रकार कबीर ने अपने राम में निराकारत्व और निरंजनत्व की स्थापना करने के साथ-साथ उनके प्रियत्व को ही प्रमुखता दी है। संक्षेप में कबीर के इष्ट के स्वरूप के वैशिष्ट्य को इस प्रकार समझा जा सकता है :

**राम का ब्रह्मत्व**

कबीर ने अपने इष्ट को आनंदरूप एवं प्रकाशरूप में स्वीकार किया है। ब्रह्म का यह स्वरूप उपनिषदों में निरूपित ब्रह्म के अनुरूप ही है। आनंद की व्याप्ति, ब्रह्म का प्रकाश और राम का मिलन कबीर इन तीनों में अभेद्य संबंध स्वीकार करते हैं :

*अमृत झरै, ब्रह्म परकासै,*
*तब ही मिलै राम राया।।*

वस्तुतः कबीर राम को अनादिता बताकर उसे औपनिषदिक ब्रह्म का रूप प्रदान कर देते हैं। उनका ऐसा इष्ट स्थान आदि की सीमाओं में सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सर्वांग एवं सर्वत्र व्याप्त है।

**आत्मत्व**

कबीर का विचार है कि उनका इष्ट आत्मा से भिन्न नहीं है। जो व्यक्ति राम-रूप में आत्मा का अनुभव नहीं करते वे राम के साथ एकात्म भाव स्थापित नहीं कर सकते :

*आत्म राम न चीन्हैं संतो।*
*क्यं रमि ले राम राया।।*

**निरंजन तत्व**

पूर्व में इस बात का संकेत दिया जा चुका है कि कबीर के इष्ट में निरंजनत्व विद्यमान है। यह समस्त विश्व-प्रसार अंजन है और उसके इष्ट राम, इस अंजन से पृथक हैं। जो व्यक्ति इस अंजन-विश्व में रमण करते हैं वे उस निरंजन इष्ट का साक्षात्कार नहीं कर सकते। इसीलिए कबीर अंजन को छोड़कर निरंजन को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं क्योंकि अंजन अस्थायी और निरंजन स्थायी है। इसके अतिरिक्त अंजन असार है और निरंजन सर्वव्यापक एवं सारपूर्ण है।

**अनुपमता**

कबीर का इष्ट अपने आप में अनुपमेय है, उसकी इस संसार में किसी से उपमा नहीं दी जा सकती। यदि उसका कोई उपमान है तो वह स्वयं ही है। वह न स्थूल है और न ही सूक्ष्म है। इस प्रकार उसका कोई भी रूप नहीं है। रूप हो भी कैसे सकता है क्योंकि वह तो 'स्थूल' एवं 'सूक्ष्म' दोनों से ही परे है। कबीर इसीलिए उसे अनुपम तत्व कहकर विभूषित करते हैं।

**रसरूपता**

कबीर के इष्ट की यह विशेषता है कि वह अगोचर होकर भी आस्वाद्य

है, लेकिन यह आस्वाद इंद्रियगम्य न होकर, मनोगम्य है। उनके इष्ट का यह रस अमृत स्वरूप है। इस रस का पान कर राम-जन अमर पद सहज ही प्राप्त कर लेता है। ऐसे रस को पीकर मन का मद विचूर्ण हो जाता है और वह आनंद की विलक्षण खुमारी में निमग्न हो जाता है।

**सर्वव्यापकता**

कबीर का इष्ट निर्गुण और सर्वव्यापक है। कबीर को इस बात का बड़ा विस्मय है कि लोग उसको खोजने के लिए सर्वत्र भागे फिरते हैं, लेकिन आस्था एवं विश्वास के साथ वे उसे अपने अंतःकरण में नहीं खोजते। यदि विश्वास की आंखों से उसे देखा जाए तो वह सर्वत्र दिखाई दे सकता है। जिस प्रकार पुष्प में सुगंधि की अदृष्य व्याप्ति है, काष्ठ में अग्नि की व्याप्ति है, उसी प्रकार राम भी घट-घटवासी हैं।

कबीर का यह विश्वास है कि आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं है, लेकिन इतना होते हुए भी वह जीवात्मा में कर्तृत्व शक्ति स्वीकार करने के पक्ष में नहीं जान पड़ते। यह मनुष्य का अहंकार ही है जो उसे इस प्रकार से सोचने के लिए विवश करता है कि जो कुछ करता है वह करता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि उसके करने से कुछ भी नहीं होता। कबीर का विश्वास है कि वही होता है जो 'राम' चाहता है :

*कबीर किया कछु न होत है, अनकीया सब होइ।*
*जा किया कुछ होत, तो करता औरै कोइ।।*

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर का इष्ट अपने-आप में अव्याख्येय है। उसको किसी भी प्रकार शब्दों अथवा छंदों में बांधा नहीं जा सकता। उसके अनेक गुण हैं, अनेक विशेषताएं हैं, लेकिन उसका वैशिष्ट्य यही है कि न उसका कोई गुण है न ही विशेषता। वह सभी प्रकार के दार्शनिक वाद-विवादों के मानदंडों से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तकीय विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, और सहज भाव से भावित है। इस प्रकार कबीर के इष्ट का स्वरूप अनन्वय अलंकार से आभूषित है।

# कबीर का समाज दर्शन

*डॉ. अनिल कुमार उपाध्याय*

युग प्रवर्तक कवि अपने समाज एवं परिवेश की छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी सभी अंतर्धाराओं का अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता रहता है तथा इनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जब उसकी भावधारा आलोड़ित होने लगती है तब वह लेखनी अथवा वाणी के माध्यम से अपनी अनुभूतियों का जो माणिक्य प्रस्तुत करता है वह साहित्य की चिरस्थायी निधि बन जाता है। कबीर अपने युग के कुशल द्रष्टा थे। वे बड़ी सतर्कता से समाज की समस्त स्थितियों का अवलोकन करते रहते थे। समाज की आंतरिक और बाह्य दशाओं के प्रति उनकी सजगता पर यदि विचार किया जाए तो स्पष्ट विदित होता है कि उनका व्यक्तित्व बड़ा ही क्रांतिकारी था। वे अन्य सामान्य लोगों की भांति अन्याय और अत्याचार को देखकर नजरअंदाज कर देने वाले व्यक्तियों में से न थे। उनका उद्देश्य तो मानवतावादी विचारों की स्थापना के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्थाओं को एक स्वस्थ एवं निर्मल स्वरूप प्रदान करना था।

कबीर के समय का समाज अधोमुखी था। हिंदू-मुसलमान आपस में सद्भाव से नहीं रहते थे। आए दिन दोनों में लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। हिंदू अपनी परंपरागत सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए सचेष्ट थे तो मुसलमान अपने को भारतीय समाज में एक प्रमुख स्थान दिलाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। रूढ़ियों, परंपराओं, आडंबरों और ढकोसलों के कारण समाज की जड़ें खोखली हो गई थीं। पंडे और मुल्ला दोनों ही अपने-अपने

ढंग से जनता को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास कर रहे थे। इसके लिए वे जिन साधनों का प्रयोग कर रहे थे, निश्चय ही वे समाज के लिए उपादेय न थे। इस समय कबीर अपनी पैनी दृष्टि से इन सबके क्रिया-कलापों को बड़ी सावधानी से देख रहे थे। उन्हें जनता के शोषकों के ये व्यवहार नितांत निंदनीय प्रतीत होते थे। इसीलिए उन्होंने उनके विरुद्ध निर्भीक होकर आवाज उठाई।

कबीरकालीन समाज अनेक संप्रदायों तथा जाति-वर्गों में बंटा हुआ था। हर संप्रदाय प्रायः दूसरे का विरोध करता था। वह यही प्रयास करता था कि दूसरा संप्रदाय आगे न बढ़ने पाए। इन संप्रदायवादियों के वैमनस्य के कारण लोगों में जहां दंभ एवं पाखंड पनप रहा था, वहीं समाज की सभी आस्थाएं टूटती जा रही थीं। इस काल के प्रमुख संप्रदाय वैष्णव, शाक्त, शैव, नाथ, स्मार्त, सूफी और इस्लाम आदि थे। ये विभिन्न संप्रदायवादी अपने-अपने हथकंडों द्वारा भोली-भाली जनता को अपने झंडे तले लाना चाहते थे। जहां तक जातीय अलगाव का प्रश्न है, उस समय मुख्य खींचतान हिंदू और मुसलमान के बीच थी। मुसलमान अपनी परंपराओं को लादने की भरसक चेष्टा कर रहे थे तो हिंदू अपनी सांस्कृतिक परंपरा की रक्षा के लिए जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे। वर्ग की दृष्टि से उच्चवर्ग की दीवार दृढ़तर होती जा रही थी। उच्चवर्ग, निम्नवर्ग को बहुत ही हेय दृष्टि से देखता था; परिणामस्वरूप निम्नवर्ग के मन में उसके प्रति स्वाभाविक विरोध का भाव अंकुरित ही नहीं अपितु पुष्पित-पल्लवित होने लगा था। समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ठीक ऐसे ही समय कबीर की दृष्टि इन सामाजिक विसंगतियों की ओर उन्मुख हुई और उन्होंने मानवतावादी विचारों के साथ इन सभी सामाजिक असमानताओं में समानता की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया। इस सामाजिक पृथकत्व से वे तिलमिला उठे और समाज के सभी वर्ग के लोगों को एक वृक्ष की शाखाओं के समान बताकर उनके समन्वय का गुरुतर प्रयास किया।

कबीरदास को यह कभी भी गवारा नहीं था कि मानव आपस में

भेदभाव की दीवार खड़ी करके परस्पर कटुतापरक अलगाव की नीति अपनाएं। इसीलिए वे सदैव एकता स्थापित करने की चेष्टा करते थे। यदि मनुष्य एक्यपरक दृष्टि से विचार करे तो उसे कभी भी संप्रदाय तथा जाति के पचड़े में न पड़ना पड़े। इसी अनेकता की भावना के कारण मानव ऊंच-नीच, छुआछुत आदि की प्राचीरों का निर्माण करता है और सदैव असँतोष की ज्वाला में जलता रहता है। जब तक समाज में वर्गभेद विद्यमान रहेगा तब तक जनजीवन सुखी तथा संतुलित नहीं हो सकता। कबीर ने अपने को ही सब-कुछ समझने तथा दूसरों के दोषों पर बार-बार दृष्टिपात करने की प्रवृत्ति पर कुठाराधात कर यह बताया कि वास्तव में हम ही अपने चतुर्दिश अनेकता का ताना-बाना बुनते हैं। यदि हम अपने आपको सुधार लें तो समाज में स्थित वर्ग या संप्रदाय का प्रभुत्व स्वयमेव समाप्त हो जाएगा। इस संदर्भ में उन्होंने कहा :

*बुरा जो देखन मैं चल्या, बुरा न मिलिया कोय।*
*जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय।।*

व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है, अतएव यदि व्यक्ति शुभ विचारों को हृदयंगम कर ले तो समाज की अनेक विश्रृंखलताओं का समाधान अपने आप निकल आएगा। किंतु जब व्यक्ति अपने को सर्वोच्च समझकर दूसरों को हीन समझने लगता है तब अनेक जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं और वे मानव को मानव के खून का प्यासा बना देती हैं। कबीर ने इन हीन मनोवृत्तियों की बड़ी निर्भीकता के साथ बुराई की। उन्होंने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि जाति-पांति की विचारधारा के पीछे कुछ ऐसे तथाकथित उच्चवर्ग के व्यक्तियों का हाथ रहता है जो अपने झूठे सुख के लिए समाज में सदैव इस स्थिति को बनाए रखना चाहते हैं । ईश्वर के घर से न कोई ऊंच होता है न कोई नीच। इस प्रसंग में उन्होंने अहंकार को मानव का एक ऐसा शत्रु बताया जो उसके अंदर रहकर धीरे-धीरे उसको खोखला करता है। अहंकार के कारण ही मानव सांसारिक बंधनों में बंधता है और इन बंधनों के मायाजनित आकर्षणों के फलस्वरूप उसके हृदय में समाज के अन्य लोगों के

प्रति ईर्ष्या, द्वेष तथा अन्य उचित-अनुचित भावनाओं का उदय होता है। इसी अहंकार की तुष्टि के लिए वह अनेक सामाजिक अपराध भी कर बैठता है। कबीर ने इस अहंकारवादी नासूर को निकट से देखकर, सामाजिक संतुलन के लिए उसके समूल नाश का मंत्र प्रचारित किया :

*कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।*
*जो घर फूंके आपनो, चलै हमारे साथ।।*

कबीर की सामाजिक दृष्टि बेहद पैनी थी। कुछ बातों में साम्य के कारण उन्हें गौतम बुद्ध के समान आदर प्रदान किया जा सकता है। गौतम की तरह ही उन्होंने भी मानव के सुख-दुख तथा दुख के कारणों पर विचार किया है। उनके विचार से मानव अपने कर्म से दुखी या सुखी बनता है। कोई बाह्य दबाव बहुत कम स्थितियों में उसे दुखी या सुखी बनाता है। इस पर विचार करते हुए उन्होंने समाज में व्याप्त कर्मकांडों का डट कर विरोध किया। उनका विचार था कि इन भावनाओं का संबल ग्रहण करके एक वर्ग उसी वर्ग की कमजोर भावनाओं का लाभ उठाता है। समाज में पंडे और मुल्ला दोनों ही इन कर्मकांडों की आड़ में अपना स्वार्थ साधते हैं। कबीर का कहना है कि सामान्यजनों को यदि अपने को सुखी रखना है तो उन्हें इन आडंबरवादियों की बातों में कदापि नहीं आना चाहिए। उन्होंने अपने पूर्ण आत्मविश्वास के आधार पर यह प्रचारित किया कि जप करना, माला पहनना, काबा जाना आदि व्यर्थ है। मानव को अपना मन और हृदय शुद्ध रखना चाहिए; उसका सुख-संतोष इसी में निहित है। कबीर ने हिंदू-मुसलमान दोनों की आडंबरवादी दृष्टि पर कुठाराघात किया है। उनका विचार है कि ये दोनों ही अनेक आडंबरों के माध्यम से समाज को रोगी बनाने के दोषी हैं:

*यह सब झूठी बंदगी, बिरथा पंच निवाज।*
*सांचै मोरे झूठ पाढ़े, काजी करै अकाज।।*

कबीर ने समाज में आचरण की शुद्धता की आवश्यकता पर भी अतीव बल दिया। उनके अनुसार जब तक मानव के आचरण में शुद्धता नहीं आएगी तक तक समाज की आंतरिक स्थित संतुलित नहीं होगी। आचरण-शुद्धि हेतु

सभी को प्रयास करना चाहिए; केवल कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए प्रयत्नों से इतने विशाल समाज का कोई भला नहीं हो सकता।

इसके अंतर्गत उन्होंने कथनी और करनी के सामंजस्य पर भी बहुत जोर दिया। उन्होंने कहा कि जब तक हमारी करनी अच्छी नहीं होगी तब तक कथनी का कोई भी मूल्य नहीं :

*कथनी कथी तो क्या भया जो करनी ना ठहराइ।*
*कालबूत के कोट ज्यूं देखत ही ढहि जाइ।।*

जब तक हम अपने में अपेक्षित सुधार नहीं कर लेते तब तक हमें दूसरों का मखौल उड़ाने का कोई भी नैतिक अधिकार नहीं है। समाज के अन्य लोगों की बुराइयों पर दृष्टिपात करने से पूर्व मानव को अपनी बुराइयों को अवश्य देख लेनी चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो उसे दूसरों की बुराइयों को देखने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। कबीर ने इस दृष्टि से आत्मसंयम तथा आत्ममंथन पर विशेष जोर दिया। उन्होंने कहा कि जबतक व्यक्ति आत्मदर्शन नहीं करता तब तक वह सच्चाई से दूर रहता है। समाज में हर व्यक्ति जब तक दूसरे से सहानुभूतिपरक व्यवहार नहीं करता तब तक एकता की आशा नहीं की जा सकती। दूसरों की हंसी उड़ाने से हम कभी भी उनकी सहानुभूति नहीं पा सकते। मानव ही समाज का निर्माण करता है अतः यह उसका पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह सबकी खुशी एवं सुख का भी ध्यान रखे। कबीर ने समाज की खुशहाली के लिए बुराइयों के उन्मूलन को एक मंत्र के रूप में प्रसारित किया। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि व्यष्टि के स्तर पर बुराइयों का उन्मूलन प्रारंभ करके ही समष्टि के स्तर पर पहुंचा जा सकता है। अपने दोषों को न देखने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं :

*दोष पराए देख कर चल्या हंसत हंसत।*
*अपनैं चीति न आबई जाको आदि न अंत।।*

अपनी भक्ति के माध्यम से भी कबीर ने समाज को उन्नत करने का प्रयास किया। इस काल में सबसे अधिक जोर भक्ति भावना पर दिया जा रहा था। जिन बातों पर लोग अन्य उपायों से नहीं चलते थे उन्हें भक्ति के माध्यम के शीघ्र ही

ग्रहण कर लेते थे। कबीर ने तत्कालीन समाज को सुधारने के लिए भक्ति को सर्वजन सुलभ बनाने का प्रयास किया। उन्होंने इसके माध्यम से न केवल ऊंच-नीच आदि का भेदभाव मिटाने का प्रयास किया बल्कि संप्रदायों के वैमनस्य को भी दूर करने का सफल प्रयास किया। उनकी यही दूरदर्शिता थी कि उन्होंने भक्ति को सब के लिए सहज और सुलभ बनाने का प्रयास करते हुए तत्कालीन सभी जातियों को अपनी तर्कयुक्त बातों से आकर्षित करने में सफलता प्राप्त की। उनकी भक्ति की राह में किसी के लिए कोई रुकावट न थी। कबीर की प्रेमभक्ति में बंधकर लोग एक हो गए। समाज में सौमनस्य का वातावरण स्थापित हो गया। इसी के साथ कबीर ने कपटाचारी साधुओं आदि पर भी व्यंग्य किया और उन लोगों को बड़ी फटकार सुनाई जो कर्म किए बिना ही मांग कर खाते हैं तथा जनता को ठगकर उनकी शांति भंग कर देते हैं। उन्होंने कर्म और श्रम पर बल देते हुए कहना चाहा कि मानव जब उनकी ओर उन्मुख रहेगा तक उसका ध्यान दूषणों की ओर नहीं जाएगा और वह इनके संबल को ग्रहण कर भगवान की भक्ति के माध्यम से अपना जन्म सार्थक कर सकेगा। कबीर द्वारा किए गए जन-जागरण के इस संदर्भ में डॉ. रामकुमार वर्मा का मत विशेष द्रष्टव्य है :

*वास्तव में भारतीय समाज में बंधुत्व के ये भाव सर्वप्रथम कबीर द्वारा ही व्यक्त किए गए थे। भक्तिभाव के आंदोलन द्वारा भगवान के सामने समभाव का आदेश तो रामानंद ने भी दिया था पर जाति विभाजन और ऊंच-नीच भाव के एकीकरण का साहस कबीर से पहले किसी ने भी नहीं किया था। सच्चा सुधारक समाज में नए मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अंधविश्वास में पड़े हुए मनुष्यों को तर्क द्वारा जाग्रत करना अधिक आवश्यक समझता है।*

किसी भी समाज की उन्नति के लिए उसके निवासियों का नैतिक दृष्टि से दृढ़ होना अति आवश्यक होता है। जब तक हमारा चारित्रिक ह्रास होता रहेगा, समाज कभी भी उन्नति के पथ पर नहीं ले जाया जा सकता। कबीर ने सदैव व्यक्ति की चारित्रिक दृढ़ता तथा नैतिकता पर जोर दिया और तथाकथित उच्चवर्ग से नैतिक आचरण का अनुरोध किया। उन्होंने समाज

सुधार के लिए सत्संगति पर भी जोर दिया। उन्होंने कहा कि हमारी बुराइयां साधु-संगति से ही दूर हो सकती हैं। अपने काव्य में कबीर ने इस विचार से समाज के लोगों का नैतिक स्तर उच्च बनाने की भी चेष्टा की। जहां उन्होंने सज्जन पुरुषों की संगति पर बल दिया है वहीं दुर्जन की संगति से दूर रहने की भी शिक्षा दी है :

*असंत संगत जिनि जादू रे भुलाइ।*
*साधु संगति मिलि हरि गुन गाइ।।*

साधु-संतों की सेवा को उन्होंने ईश्वर की सेवा के बराबर महत्व प्रदान किया है। तत्कालीन समाज को साधु-संतों की ओर आकृष्ट करके वे सामाजिक अस्थिरता से उत्पन्न मानसिक अशांति का निराकरण करने का प्रयास कर रहे थे। जनता भी ऐसे ही कार्यों की ओर आकर्षित होती है जिसमें सरलता से उपलब्धि प्राप्त हो जाए। वह तत्कालीन अस्थिर वातावरण की बोझिलता से बचकर कहीं तनाव-मुक्त होने को प्रयास कर रही थी। कबीर ने साधु-संतों की सेवा करने तथा उनके सत्संग से लाभ उठाने की प्रेरणा देकर लोगों को मुंहमांगी मुराद दे दी।

कबीर ने समाज के सदस्यों को अपेक्षाकृत अधिक उदार बनाने का स्तुत्य प्रयास किया। उस समय मानव संकुचित मनोवृत्ति के दायरे में बंध कर केवल स्वकल्याण की बातें ही सोचता था; मानव-मात्र के कल्याण की न तो उसे चिंता थी और न ही इस विषय पर गंभीरतापूर्वक सोचने का उसे अवकाश था। कबीर ने अपने अनेक उद्बोधक कथनों के माध्यम से उसे समाज के प्रति सहृदय बनाया। वह इस बात के कट्टर पक्षपाती थे कि मानव-मात्र समान मर्यादा का अधिकारी है। जो उसकी मर्यादा का अपहरण करता है उसे समाज में रहने का कोई अधिकार नहीं है। सम्मान और मर्यादा की दृष्टि से व्यष्टिस्तर का कोई महत्व नहीं है, यह तो समष्टिपरक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत यहां अधिक सम्मत प्रतीत होता है : *वे मनुष्य मात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे। व्यक्तिगत, जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था।*

कबीर ने समाज को आत्मनिर्भरता का भी पाठ पढ़ाया। इसके लिए उन्होंने केवल उपदेशों का ही मार्ग नहीं अपनाया अपितु स्वयं कपड़ा बुनकर जीविका चलाने का भी उदाहरण प्रस्तुत किया। कबीर ने मानवतावाद को जितना प्रश्रय दिया उतना शायद ही किसी अन्य कवि ने दिया हो। उन्होंने अहिंसा से लेकर सौजन्य तक का जिस स्वाभाविक उद्गार से प्रसार किया उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य में कबीर जैसे समाजदृष्टा बिरले ही हुए हैं। कबीर ने बहुत ही कुशलता तथा भेदपरक दृष्टि से समाज की समस्याओं पर दृष्टिपात किया और उनकी तह में जाकर उनके निराकरण के लिए जिन दूरदर्शितापूर्ण सुझावों का उद्घाटन किया वे सामान्यजन में सदैव समादृत होते रहेंगे और जनजीवन सदैव उनके प्रति आभारी रहेगा।

# अमर सूक्तियों के रचयिता

## *महंत महावीर दास*

कबीर साहब अमर सूक्तियों के रचयिता थे। परंपरा से प्रचलित दोहा को उन्होंने कवित्व का एक अंग माना। दोहा में उन्होंने कवियों की कल्पना की भी गंध पाई। अतः उन्होंने निर्भीक होकर सत्य को संपूर्ण जीवों के लिए जिस रूप में कहा, उसे 'साखी' नाम दिया। साखी शब्द जन-साधारण की भाषा का द्योतक है। विद्वान साखी को साक्षी कहते हैं। *बीजक* की एक साखी से स्पष्ट होता है:

*साखी आंखी ज्ञान की, समुझि देखु मन मांहि।*
*बिनु साखी संसार का, झगड़ा छूटत नांहि।।*

झगड़े के मूल को जानते हुए भी वादी और प्रतिवादी के पक्षपात से जो रहित होते हैं, उन्हें ही साक्षी अथवा साखी या गवाह कहते हैं। कबीर साहब ने अध्यात्म में निष्पक्ष रूप से मानव में मानवता का प्रवाह लाने के लिए जो कुछ कहा, वह सत्य से ओत-प्रोत होने के कारण साखी कहा गया। *बीजक* में एक साखी है :

*पूरब दिसा हरी को बासा, पश्चिम अलह मुकामा।*
*दिल महं खोजु, दिलहि मैं खोजो, यहीं करीमा रामा।।*

यह साखी स्पष्ट रूप से प्रकट करती है कि कबीर साहब सांप्रदायिकता से ऊपर उठकर मानवता को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। निष्पक्षता के संबंध में *बीजक* में उनकी एक साखी है :

*कबीरा खड़ा बजार में, सब की चाहे खैर।*
*ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।।*

अध्यात्म में झूठी रूढ़िवादी परपंरा का अंत करने के लिए कबीर ने जो कदम उठाया, उससे मानव में सत्य की अनुभूति हुई। सनातन धर्म में एक कहावत के रूप में झूठी रूढ़ि का खूब प्रचार था कि उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में मगहर नामक ग्राम (केंद्र सरकार ने यहां स्टेशन पर भी कबीर की वाणियों को अंकित करा दिया है और उत्तर प्रदेश सरकार ने मगहर में कबीर साहब के अंतर्धान की पवित्र भूमि पर ऐसा स्मारक बनवा दिया है, जहां एक ओर मौलाना कुरान शरीफ का पाठ करते हैं और दूसरी ओर हिंदू पाठ करते हैं) में मरने वालों का अगला जन्म गधे की योनि में होगा और काशी में मरने वालों को स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अतः कबीर साहब ने कहा :

*का कासी का मगहर ऊसर, ह्रदय राम बसु मोरा।*
*जो कासी तन तजइ कबीरा, रामहिं कवन निहोरा।।*

अतः सत्य को अध्यात्म में हर मानव के लिए उपयुक्त बताने के लिए कबीर साहब ने मगहर में जाकर भौतिक शरीर का त्याग कर सनातन-धर्म की झूठी रूढ़ि का नाश किया।

कबीर साहब ने वर्ग-विहीन समाज, समाजवाद और मानवतावाद के सिद्धांतों को अपनाने की प्रेरणा देते हुए कहा :

*साईं इतना दीजिए जामें कुटुंब समाय।*
*मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय।।*

इस साखी की व्यापकता पर यदि गहराई से विचार करें तो धनवान तथा गरीब की लंबी खाई को पाट कर यह वर्ग-विहीन समाज बनाने में भी सहायक सिद्ध हो सकती है।

कबीर 'सच्चिदानंद' जो सत् + चित् + आनंद से बना है, का 'सत्यरूप' निरूपण करते हुए कहते हैं :

*सब मंत्रण का बीज है, सत-नाम ततसार।*
*जो जन वाकौ हिरदै धरै, सो जन उतरे पार।।*

वेदोपनिषद में भी *तत् सत्* और *सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म* आए हैं। इसलिए सत्-नाम, सत्-पुरुष, सत्य-लोक, सत्-धाम, सत्-शब्द, सत्-गुरु, सत्-विचार, सार-शब्द, सत्-संग आदि शब्द उनकी वाणियों में आते रहे हैं। क़बीर साहब की वाणियों में जहां सत वा सत्य आया है वह शुद्ध चेतना के रूप में ही है। कबीर कहते हैं :

*सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।*
*जाके हिरदय सांच है, वाके हिरदय आप।।*

महात्मा गांधी ने भी जब 'सत्य' की अनुभूति की, तो उन्होंने कबीर के सत्य, अहिंसा, चरखा, करघा, अछूतोद्धार, हिंदू-मुस्लिम एकता और मानवता को राजनीति में लाकर स्वराज्य प्राप्ति का अस्त्र बनाया और विश्व को चकित कर दिया। कबीर साहब का भजन *झीनी-झीनी बीनी चदरिया* और *धोबिया जल मरत प्यासा* हृदय-ग्राही हुआ। इस भजन से मानव को एक अपूर्व ज्ञान की प्राप्ति होती है। कबीर साहब सत्य अर्थात सत्पुरुष से साक्षात्कार की सरल विधि एक साखी में बताते हैं :

*सब घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।*
*बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय।।*
*साहिब केरि साहिबी, सब घटि रही समाय।*
*ज्यों मेंहदि के पात में, लाली लखी न जाय।।*

मानव में ज्ञान, विचार, शील और संतोष न हो तो उसमें मानवता का अवश्य अभाव रहेगा और मानव आत्मा तथा परमात्मा की अनुभूति नहीं कर सकेगा। कबीर कहते हैं :

*एकै साध सब सधै, सब साधे सब जाय।*
*जो तू सींचे मूल को, फूले फल अघाय।।*
*सत्यनाम जाने बिना, हंस लोक नहिं जाए।*
*ज्ञानी पंडित सूरमा, कर कर मुये उपाय।।*

कबीर ने हर मानव को कहा कि काल अर्थात मृत्यु सर्वदा प्रत्येक प्राणी को घेरे रहती है। मृत्यु कब और कहां किस को मारेगी, यह कोई नहीं बता सकता। इसलिए 'मृत्यु' को सत्य समझ कर मानव को चलना चाहिए। कबीर कहते हैं :

*सुमिरन करहु राम का, काल गहै है केस।*
*न जानो कब मारिहै, का घर का परदेस।।*

कर्मठता अपनाने और आलस को दूर भागने के संबंध में उनकी एक साखी है :

*काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।*
*पल में प्रलय होयगी, बहुरि करोगे कब।।*

देश की सुरक्षा आदि के लिए कबीर साहब सूरमा अर्थात वीरों को उच्च स्थान देते हुए कहते हैं :

*कबीर रन में आय कै, पीछे रहे न सूर।*
*साईं के सम्मुख रहे, जूझें सदा हजूर।।*

इस साखी के द्वारा सूरमा की सराहना करते हुए, भगवान की भक्ति करने वालों को कबीर कहते हैं कि भक्त को सूरमा के जैसा होना चाहिए अर्थात जिस प्रकार सूरमा अर्थात वीर-जवान युद्ध में जाकर पीछे नहीं हटते हैं, उसी प्रकार भक्त को साईं अर्थात प्रभु के सम्मुख अपने को समझ कर संसार के प्रपंच, असत्य, लोभ, मोह और क्रोधादि से लड़ते रहना चाहिए। आगे वह वीरों की सराहना करते हुए कायर को बहुत नीचा बताते हैं। एक साखी में कहा गया है :

*सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।*
*कायर भागे पीठ दे, सूरा करे संग्राम।।*

भारत ने अपने जवानों की सराहना की है। जब कभी भी युद्ध का मौका मिला, भारत के जवानों ने अपना जौहर दिखाया और कभी भी कायर नहीं बने। उन्होंने कभी भी युद्ध में हथियार डाल कर देश को पराजय का

मुख नहीं दिखलाया। कबीर साहब सर्वदा वीरों की सराहना इसलिए करते रहे, क्योंकि निर्भयता वीरता से आती है। शूरवीर और प्रभु के भक्त दोनों मृत्यु से नहीं डरते हैं और जब मैदान में चल पड़ते हैं तो पीछे नहीं हटते। इसीलिए महात्मा गांधी भी अहिंसा को वीरों की वाणी कहते रहे। भक्त अहिंसा को अपनाता है, क्योंकि सत्य और अहिंसा निर्भयता का प्रतीक हैं।

कबीर समाज को आपस में प्रेम-प्रीति के साथ रहने का उपदेश देते हैं और कपटी से सावधान रहने को भी कहते हैं। एक साखी में आया है :

*प्रेम प्रीति से जो मिले, ताको मिलिये धाय।*
*कपट राखि के जो मिले, तासों मिले बलाय।।*

समाज को संतुलित रखने के लिए कबीर साहब ने नशापान को ठीक नहीं बताया। वह कहते हैं :

*भांग तमाखू धतूरा, सुरा पान ले घूंट।*
*कहैं कबिरा ता जीव का, धर्मराय सिर कूट।।*

कबीर साहब ने जाति-विहीन समाज का बनाने की प्रेरणा दी तथा धर्मनिरपेक्षता के संबंध में हिंदू-मुसलमान दोनों को एक शब्द में असली तत्व का बोध कराते हुए कहा :

*ऐसा भरम बिगुरचन भारी।*
*वेद कितेब दीन और दोजख को पुरुषा को नारी।।*
*माटी के घट साज बनाया, नादे बिंदु समाना।*
*घट विनसे का नाम धरहुगे, अहमक खोजत मुलाना।।*
*एकै तुचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।।*
*एक बूंद सों सृष्टि कियो है, को ब्राह्मण को सूदा।।*
*रज गुन ब्रह्मा तम गुन शंकर, सत गुण हरि सोई।*
*कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिंदू तुरुक न कोई।।*

भारत में छुआछूत एक अपराध है। अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देने में यदि सभी लोग कबीर के मानवतावादी सिद्धांत का अनुकरण करने लगें

तो समाज जातिविहीन हो जाएगा और भारत का धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत सफल हो पाएगा।

कबीर की एक साखी है जिसे लोकतांत्रिक व्यवस्था में अर्थनीति का मूल मानना पड़ता है। उनका कहना है :

*बूंद समाना सिन्धु में जानत हैं सब कोय।*
*सिन्धु समाना बूंद में बूझे बिरला कोय।।*

इस साखी का अर्थ, अर्थनीति और अध्यात्म दोनों में लगाया जा सकता है। अर्थनीति में इसका भाव होगा कि लोकतंत्र में देश की जनता अपना मत देकर सरकार बनाती है और बूंद-बूंद की तरह कर देकर सरकारी खजाने को भरती है। कर देने और कर वसूलने को सब लोग देखते हैं, परंतु इस कर में सरकारी कोष समाया है इसे कोई-कोई ही समझ सकता है। सरकार कर वसूल कर बड़ी-बड़ी योजनाओं पर खर्च करती है, शिक्षा पर और जन-स्वास्थ्य पर खर्च करती है। सड़क, नहर, नदी-नाले के निर्माण पर, परिवहन पर और कृषि तथा ज्ञान-विज्ञान पर खर्च करती है, जिससे जनता को रोजगार तथा रोजी-रोटी मिलती है। खेतिहर और कारखानेदार तथा मजदूर, सब उत्पादन बढ़ाने में सरकारी योजनाओं का उपयोग करते हैं जिससे उनकी आमदनी में वृद्धि होती है। सारांश यह हुआ कि कर जब सरकार लेती है, तब सब लोग देखते हैं, परंतु कर में सरकारी खजाना समाया है, इसे कोई-कोई ही समझ पाता है। अतः लोकतंत्र की अर्थनीति का आधार कबीर की उपरोक्त साखी को माना जा सकता है।

कबीर पाखंड का खंडन करने के समय लोभी गुरू और शिष्य दोनों की आलोचना करते हुए कहते हैं :

*गुरु लोभी सिष लालची, दोनों खेलें दांव।*
*दोनों बूड़े बापुरे, चढ़ि पाथर की नांव।।*

सतगुरु की प्रतिष्ठा और शिष्य की प्रतिष्ठा का निरूपण करते हुए कबीर कहते हैं :

*सतगुरु सम को है सगा, साधू सम को दात।*
*हरि समान को हितू है, हरिजन सम को जात।।*

इस साखी का भावार्थ है कि सतगुरु के समान कोई भी परिवार-जन या रिश्तेदार नहीं है और परमात्मा (हरि) के समान कोई भी हितकारी नहीं है। जो परमात्मा (हरि) का भजन करने वाला हरिजन है, उसकी जाति से उत्तम कोई जाति नहीं है। महात्मा गांधी ने 'हरिजन' शब्द की पवित्रता को इस रूप में समझा कि हरिजन वह है, जिसमें मानवता हो, मानव सेवा का गुण हो तथा परमात्मा पर आश्रित हो। इसीलिए गांधी जी ने *अछूत* कहलाने वाली जातियों को हरिजन कहा।

कबीर साहब की कुछ सूक्तियां निम्न प्रकार हैं :

1. किसी गलत काम को कर लेने पर जो लोग पछताते हैं उनके लिए एक साखी है :

*करता था सो क्यों किया, अब करि क्यों पछताय।*
*बोवे पेड़ बबूल का, आम कहां से खाय।।*

2. अपना कर्म शुद्ध रखने से अपने को ही लाभ होता है :

*जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोओ तू फूल।*
*ताहि फूल को फूल है, वाको हैं तिरसूल।।*

3. शोषण के द्वारा धन संचय की प्रवृत्ति पर कहते हैं :

*जो जल बाढ़े नांव में, घर में बाढ़ दाम।*
*दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।*

4. जो मनुष्य दूसरे की बुराइयों पर ही ध्यान देते हैं, उनके लिए यह साखी है :

*बुरा जो देखन मैं चल्या, बुरा न मिलिया कोय।*
*जो दिल खोजा आपना, मुझ सा बुरा न कोय।।*

5. सज्जन पुरुषों के चरित्र कैसे हों, इस संबंध में वह कहते हैं :

*सज्जन जन वही, जो ढाल सरीखा होय।*
*दुख में तो आगे रहे, सुख में पीछे होय।।*

6. दयालु और लोभी तथा क्रोधी और क्षमा करने वालों के प्रति एक ही साखी में निष्कर्ष के साथ कहते हैं

*जहां दया तहं धर्म है, जहां लोभ तहं पाप।*
*जहां क्रोध तहं काल है, जहां छिमा तहं आप।।*

7. मूर्ख और पंडित दोनों को ही कबीर बराबर मानते हैं– यदि दोनों में काम, क्रोध, मद, लोभ है :

*काम, क्रोध, मद लोभ की, जब लग घट में खान।*
*कहा मूर्ख कहा पंडिता, दोनों एक समान।।*

8. धन बल, विद्या बल, शारीरिक बल पाकर जो अभिमान करते हैं और लाचार, गरीब को देखकर हंसते हैं, उनके बारे में वह कहते हैं :

*कबिरा गरब न कीजिये, कबहूं न हंसिये कोय।*
*अबहूं नाव समुद्र में, का जाने का होय।।*

9. कबीर साधु स्वभाव के लोगों को अर्थात् सज्जनों को जगाने को कहते हैं, परंतु सिंह और सांप के साथ-साथ असज्जन लोगों को भी सोता ही छोड़ देने को कहते हैं, क्योंकि सज्जन लोग जग कर अपनी और अन्यों की भलाई के कामो में लग जाते हैं और भगवान का भजन करते हैं, परंतु 'साकत' अर्थात असज्जन जगने पर बुराई के कामों में जुट जाते हैं :

*सोता साध जगाइये, करै राम का जाप।*
*ये तीनों सोते भले, साकत सिंह और सांप।।*

10. सत्संगति के उत्तम फल के संबंध में वे कहते हैं :

*जीवन जोवन राज मद, अविचल रहै न कोय।*
*जा दिन जाय सतसंग में, जीवन का फल सोय।।*

11. मानव, साधु और महात्मा के चरित्र की व्याख्या एक ही साखी में करते हैं :

*हद में रहे सो मानवा, बेहद रहै सो साध।*
*हद बेहद दोनों तजै, तका मता अगाध।।*

12. जब कोई व्यक्ति किसी कठिन परिश्रम का उत्तम फल पाता है, तो लोग कहते हैं :

*जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।*
*मैं बौरी बन डरी, रही किनारे बैठ।।*

13. किसी व्यक्ति को कठिन साधना में असफल होते देख कर कबीरपंथी संत, जो सहज ध्यान और सुरति योग को जानते हैं, कबीर की यह साखी पढ़ते हैं :

*न जोगी जोग सों धावै, न तपसी देह जलावै।*
*सहज ध्यान सौं पावै, सुरति का खेल जेहि आवै।।*

14. जब कोई आलसी या मूर्ख निजी शक्ति को न पहचान कर भूखों मरता है तो लोग कहते हैं :

*कर बहियां बल आपनी, छोड़ बिरानी आस।*
*जाके आंगन नदि बहे, सो कस मरत प्यास।।*

15. जब कोई व्यक्ति अनपढ़ होकर ज्ञान, विज्ञान और इतिहास की बातें करता है ( जो विश्वविद्यालय की बातें होती हैं) तो पढ़े-लिखे विद्वान उनके संबंध में कबीर की यह साखी दुहराते हैं :

*पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।*
*ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।*

# जनवादी कवि कबीर

## *डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त*

भारतीय संत-साहित्य हमारी परंपरा की अनुपम और अद्भुत निधि है। इस साहित्य में तत्कालीन भारतीय समाज के अंतर्द्वंद्वों का संपूर्ण इतिहास निहित है। तत्कालीन शासकों और पूर्ववर्ती विदेशी आक्रमणकारियों में एक अंतर यह था कि उनके आचार-विचार, संस्कृति, भाषा और वेश-भूषा भारतीय जनता के परंपरागत आचार-विचारों से सर्वथा भिन्न थे। यद्यपि ये शासक इस देश में आकर बस गए थे, फिर भी इनके और जनता के बीच भेदभाव की एक बड़ी दीवार खड़ी थी। इन भेदभावों को दूर करने के निरंतर उपाय भी होते रहे। इनको मिलाने और एक करने का प्रयास हमारे इतिहास की प्रगतिशील परंपरा का महत्वपूर्ण अंग है और कबीर उसके सर्वोत्तम प्रतीक हैं।

यह भी ठीक है कि भारतीय समाज के सामंती ढांचे के साथ ही ये भेदभाव जुड़े हुए हैं। जब यह ढांचा टूटकर एक नवीन जनवादी व्यवस्था को जन्म देगा, तभी परस्पर के भेदभाव मिट सकेंगे। इस नई व्यवस्था के लिए जीवन-मरण के संघर्ष में महान संत कवियों का साहित्य हमारी अमूल्य विरासत है। इस साहित्य में हम अनेक अंतर्विरोध भी पाते हैं। संत कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे। उनकी सामाजिक चेतना बहुत तीव्र थी। जनता के दुख-दर्द और उसकी वेदना से फूटकर ही उनके काव्य की सरस्वती बही थी। जनता की पीड़ा से यह काव्य ओत-प्रोत है, किंतु संत-साहित्य का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है। संत-साहित्य में परलोकमुखी

तत्व बहुत प्रबल है। इस साहित्य में हमें निरंतर यह भावना मिलती है कि संसार असार है, माया के महलों में मनुष्य की आत्मा बंदी है, इस माया ठगनी के जाल से आत्मा को मुक्त करना है। इस प्रकार का दुखवाद और पराजयवाद भी हमें इस कार्य में मिलता है।

संत कवियों ने भक्ति का मार्ग अपनाया, किंतु उनके मतों में परस्पर अनेक भेद हैं। सगुणधारा के विपरीत कबीर ने निर्गुणपंथ अपनाया। उन्होंने राम और रहीम के भेद का पचड़ा ही छोड़ दिया और आपस के सभी भेदभावों के विरुद्ध जेहाद बोल दिया। कबीर कहते हैं :

*करता के कुछ रूप न देखा। करता के कुछ वरन न बेखा।*
*ताके जात गोत कुछ नाहीं। महिमा बरनि न जाय मो पाहीं।*
*रूप अरूप नहीं तेहि ताऊं। बर्न अबर्न नहीं तेहि ठाऊं।*
*कहैं कबीर विचारि के, जाके बर्न न गांव।*
*निराकर और निर्गूना है पूरत सब ठांव।।*

कबीर के काव्य में विषय-वस्तु प्रधान है। अपने मत का प्रचार करने के लिए कबीर ने कविता कही थी। उन्होंने मसि-कागद छुआ नहीं था। उनकी वाणी का संग्रह बाद में उनके शिष्यों ने किया। कबीर का विचार-दर्शन उनके जन्म और जाति से काफी प्रभावित है। कबीर अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं।

कबीर अपने को हिंदू या मुसलमान नहीं मानते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी कबीर का जीवन-दर्शन उनके जन्म और जातिगत वातावरण से बड़ी हद तक प्रभावित हुआ था। द्विवेदी कबीर को *नाथ मतावलंबी गृहस्थ योगी* कहते हैं। कबीर का विद्रोह समस्त सामंती आचार-विचारों और संस्कृति के प्रति समाज के दलित और त्रस्त वर्गों का विद्रोह है।

कबीर निर्गुणवादी थे, किंतु उनके विचार-दर्शन का आधार भक्ति और प्रेम था। वेदांत और सूफी मत, दोनों से वह प्रभावित हुए थे। कबीर ने बार-बार कहा है कि प्रेम का महत्व सब पोथी-पत्री से बड़ा है। कबीर कहते हैं :

*पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया,*
*लिखी-लिखी भया जु ईंट।*
*कहै कबीरा प्रेम की,*
*लगी न एकौ छींट।।*

जोगियों का भी कबीर ने काफी मजाक उड़ाया है :

*कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।*
*जंगल जाइ जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी बन गैले हिजरा।।*

कबीर सभी बाह्य आडंबर और पाखंड के विरुद्ध थे। इसलिए वह राम और रहीम, मुल्ला और पांडे का भेद नहीं मानते थे। कबीर कहते हैं :

*मूड़ मुड़ाए हरि मिलें, सब कोई लेइ मुड़ाय।*
*बार-बार के मूड़े ते, भेड़ न वैकुंठ जाय।।*
*पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का सा खेल।*
*जब लग पिऊ परसे नहीं, तब लग संसय मेल।।*

वर्णाश्रम-धर्म पर अवलंबित सामंती हिंदू समाज के प्रति कबीर के विद्रोही हृदय के ये उद्‌गार निकले हैं :

*संतो, पाण्डे निपुन कसाई।*
*कहै कबीर सुनो हो संतो, कलि मां ब्राह्मण खोटे।।*
*फूटी आंख बिबेक की, लखै न संत-असंत।*
*जाके संग दस बीस हैं, ताको नाम महंत।।*

कबीर 'प्रेम' को जीवन का मूल-मंत्र मानते हैं। उनके अनुसार सच्चा धर्म वही है, जो मनुष्य को प्रेम की सीख देता है। कबीर प्रेम की महिमा गाते नहीं थकते :

*यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।*
*सीस उतारे, भुइं धरे, तब पैठे घर माहिं।।*
*सीस उतारे, भुइं धरे ता पर राखै पांव।*
*दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव।।*

इसी सर्वव्यापी प्रेम के कारण कबीर ऊंच-नीच और हिंदू-मुसलमान के भेदभाव को कोई प्रश्रय नहीं देते। मनुष्यमात्र का महत्व उनकी दृष्टि में बड़ा है, उसकी बाह्य वेश-भूषा, आचार-विचार जो भी हों। मध्ययुग के गहन कुहासे में कबीर के ये विचार आलोक की तीव्र और तीखी स्वर्णिम रेखाएं हैं, जिनसे आज भी अंधविश्वासों में डूबा प्राणी प्रकाश पा सकता है।

कबीर मनुष्य के दुख से द्रवित होकर बड़ी हृदयद्रावक भाषा में जग की पीड़ा का वर्णन करते हैं :

*जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा।*
*उदै अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौं बिबेखा।*
*बाटै-बाटै सब कोई दुखिया, क्या गिरही, बैरागी।*
*सुक्राचार्य दुख ही के कारन, गर्भै माया त्यागी।।*
*जोगी दुखिया जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना।*
*आसा-तृष्णा सब घर व्यापै, कोई महल नहिं सूना।।*

अन्यत्र भी कबीर इसी स्वर में कहते हैं :

*चलती चक्की देखि कै, दिया कबीरा रोय।*
*दुइ पट भीतर आइ कै, साबित गया न कोय।।*

इसी सर्वव्यापी पीड़ा के कारण कबीर संसार को असार समझने लगे थे। इसके पाखंड और मिथ्याचारों से उन्हें घृणा हो गई थी। सभी धर्मों में वह महंती और झूठ का आडंबर देखते थे। कबीर ने निरंतर अपने पदों में सत्य, सहृदयता और सत्संग की प्रशंसा की। उनकी सीख उत्तर भारत की जिह्वा पर पूर्ण रूप से चढ़ गई है। तुलसी के समान ही उनके पद लोकप्रिय हैं। इस तथ्य को सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है :

*जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।*
*मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।*
*संत न छांड़ै संतई, कोटिक मिलै असंत।*
*मलय, भुवंगहिं वेधिया, शीतलता न तजंत।।*

कबीर के उपदेशों की निरंतर यही ध्वनि है कि दूसरों का भला करो, यही धर्म, व्रत, संयम, यम, नियम है :

*कबीरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।*
*जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।।*

जीवनपर्यंत अपनी अटपटी सधुक्कड़ी भाषा में कबीर उत्तर भारत की जनता को सीख देते रहे। सुकरात के समान वह कड़वी बातें कहते थे। उनके विद्रोही हृदय का स्तर तत्कालीन शासन-व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था पर तीव्र आघात करता था। सुकरात के ही समान कबीर शासकों का कोपभाजन बने। *झूठा रोजा, झूठी ईद* जैसे वाक्यों से क्रुद्ध होकर बादशाह सिकंदर लोदी ने कबीर को जंजीरों में बंधवा कर गंगा में फिंकवा दिया, किंतु कबीर किसी प्रकार बच गए। वह कहते हैं :

*गंग लहर मेरी टूटी जंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर।*
*कहे कबीर कोई संग न साथ, जल-थल राखत हैं रघुनाथ।।*

कबीर ने अपनी भाषा को भी कभी सजाया और संवारा नहीं। सीधी, साफ, दो टूक बात कहते थे। कवि बनना या कहलाना उनका ध्येय न था। वह कवि बिना इच्छा किए ही बन गए, क्योंकि ज्ञान का अनमोल मोती उन्हें मिला था। इसका मूल्य जनता ने पहचाना। कबीर सामान्य जीवन से अपनी उपमाएं लेते हैं और इसी कारण इन उपमाओं में बल है, तीखापन है, हृदय को बेधने की क्षमता है। व्यापारी, तराज, माटी, जौहरी, गंधी, विरहिन, पति, बहू, खाला का घर आदि उपमाएं और शब्द-चित्र कबीर-वाणी में प्रचुरता से मिलते हैं। इनमें पंडितों के अनुसार अक्सर ग्रामीण दोष भी कहा जाएगा, किंतु भारतीय जनता ने कबीर की वाणी को अपना कर यह सिद्ध किया है कि यह वाणी वस्तुतः भारतीय समाज के हृदय की वाणी है।

कबीर के समान विद्रोही व्यक्तित्व भारतीय इतिहास में दूसरा नहीं हुआ। यह सच है कि अनेक प्रतिभाएं उनके दाएं-बाएं शोभा पाने की

अधिकारी हैं। नामदेव के काव्य में भी परंपरा, रूढ़ि और मिथ्याचार पर वही तीखा प्रहार है जो हमें कबीर में मिलता है, किंतु यह भी सच है कि उन्हीं विचारों को कबीर जिस ओज और वेग से रखते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर का जीवन और काव्य भारत की सामंती व्यवस्था की रूढ़ियों, पाखंडों, आडंबरों और मिथ्याचार के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना से भरा है। उनके जीवन और काव्य के संपूर्ण तथ्य को उनकी मृत्यु से संबंधित घटना चरितार्थ करती है।

कबीर का काव्य भारतीय संस्कृति की परंपरा में एक अनमोल कड़ी है। आज का जागरूक लेखक कबीर की निर्भीकता, सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी तीव्र विरोध की भावना और उनके स्वर की सहज सच्चाई और निर्मलता को अपना अमूल्य उत्तराधिकार समझता है।

# जनसामान्य में कबीर की लोकप्रियता

## *डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'*

संत कबीरदास का जन्म ऐसे युग में हुआ था, जिसमें राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में अनेक संघर्ष चल रहे थे। समस्त भारतीय समाज धर्म और कर्म के आधार पर अनेक वर्गों में विभाजित था। उन सभी वर्गों को शास्त्र और लोकाचार के अनेक भ्रम-जाल सामाजिक और मानसिक यातनाओं से घेरे हुए थे। जनसामान्य पीड़ित और आतंकित होकर जीवन के प्रति निराशा और आस्था का दृष्टिकोण अपना रहा था। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह वेदपाठी, योगी, संन्यासी, दिगंबर, पीर या इसी प्रकार के अन्य किस धर्मवाहक की बात सुने। घर से बाहर तक जो लोकाचार विभिन्न रीति-रिवाजों और बाह्याचारों में उलझा रहे थे, उनमें से वह किसका ग्रहण और किसका त्याग करे। अनेक धर्मोपदेश इधर-से-उधर आतंक जमाते घूमते थे, किंतु उनमें से एक भी ऐसा नहीं था, जो शास्त्रों की किताबी ज्ञानोच्चता को सामान्य जन के लिए व्यवहार्य बनाए या लोकाचार की सड़ी-गली परंपराओं पर कुठाराघात करे। कबीर ने अपने युग की इस स्थिति को बहुत गहराई तक समझा तथा कविता के माध्यम से सभी बुराइयों पर इतनी सशक्त चोट की कि जनसामान्य को समस्त प्रकार की यातनाओं से मुक्ति पाने का एक विशाल द्वार दृष्टिगोचर हो उठा। इतना महत्वपूर्ण कार्य उनके पूर्व या पश्चात कोई भी कवि नहीं कर सका। यही कारण है कि केवल अपने युग में ही नहीं, आज भी जनसामान्य में कबीरदास अत्यंत लोकप्रिय

कवि माने जाते हैं।

कबीर की सबसे बड़ी विशेषता, जो उन्हें जनसामान्य में लोकप्रिय बनाती है, यह है कि वे जीवन को बहुत निकट से एक व्यावहारिक सत्य के रूप में देखना चाहते हैं। उन्होंने मनुष्य की यातना को बहुत निकट से समझा है और उससे समूची मानवता की मुक्ति के लिए आवाज दी है। मानव की दुखभरी नियति को न तो वे शाश्वत मानते हैं और न उसे दया-दान के वितरण से बदलने में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि उनकी कविता सामाजिक यथार्थ की अछूती गहराइयों का एक-एक कोना झांकती हुई मानव की यातना-मुक्ति की निरंतर गूंजती आवाज सिद्ध होती है। वे अपनी पैनी शब्दावली से हर प्रकार के आडंबर को तोड़ती हुए आगे बढ़ते हैं। फल यह होता है कि शास्त्र और लोकाचार के पाटों में पिस रही जनता अचानक उनसे बाहर हो जाने का अवसर पा जाती है।

कबीर जनसामान्य की अनुभूतियों के सच्चे कवि हैं। वे लोककंठ से लोक-हृदय तक जाते हैं और जन-जन की वाणी बनकर उन्हीं के आकाश में गूंज उठते हैं। उनके लिए कविता जीवन का पर्याय बन जोती है। अपनी अद्भुत प्रतिभा से विभिन्न आवरणों को भेदकर वे जीवन की सच्ची तस्वीर खींच लाते हैं। इस तस्वीर में केवल सामान्य जन का स्थान सुरक्षित होता है, विशिष्ट जन जो शोषण पर जीवित है— उनकी अनगढ़ रेखाओं से स्वतः कट जाता है। बहुत ही ईमानदारी से वे हर वर्ग, हर धर्म और स्थिति के उस विशिष्ट जन का बहिष्कार करते हैं, जो जनसामान्य के उत्पीड़न में संलग्न है।

कबीर के युग में सबसे गहरा अंधकार धर्म के क्षेत्र में फैला हुआ था। इस क्षेत्र के विशिष्ट जन थे— पंडित-पंडे, पीर-मौलवी, ज्ञानी-ध्यानी, योगी-संन्यासी आदि। कबीर ने इन सब की बातों को नकारते हुए घोषणा की कि मुझे किसी भी धर्मोपदेश द्वारा निर्दिष्ट ईश्वर या खुदा पर निर्भर नहीं रहना है। मुझे तो अपने नियंता की स्वयं ही अपने विवेक से खोज करनी है। उनकी यह घोषणा फलवती हुई। उन्हें अपने विवेक के बल से ऐसे सत्य की अनुभूति हुई, जिससे अंतःचक्षु खुल गए और उस अनंत का साक्षात्कार हो

उठा, जिसे पाने के लिए विभिन्न धर्म अब तक भटक रहे हैं और सत्य के अभाव में दूसरों को भी भटकाते हैं। कबीर का सत्य उनकी अनुभूति से उत्पन्न है, इसलिए कठिन शब्दावली में भी वे जनसामान्य के निकट सरलता से पहुंच जाते हैं

*सतगुर की महिमा अनत, अनत किया उपगार।*
*लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावण हार।।*

जनसामान्य न तो इतना शिक्षित है और न इतना विवेक ही रखता है कि वह धर्म की दार्शनिक गुत्थियों को सुलझा सके। शिक्षा का प्रसार हो जाने पर भी सामान्यजन भविष्य में भी यांत्रिक युग की व्यस्तता के कारण विवेक की उन ऊंचाइयों तक शायद ही पहुंच सके, जहां पहुंचकर धर्मों के भिन्न-भिन्न मार्ग एक हो सकते हैं। कबीरदास सामान्यजन के जीवन की इस स्थिति से भली-भांति परिचित थे। वे इस बात को समझते थे कि अलग-अलग धर्मों की दार्शनिक और आचारपरक समस्याओं को उलझे हुए रूप में प्रस्तुत करना जनसामान्य के लिए नितांत अनुपयोगी कार्य है। इसीलिए उन्होंने सर्वग्राह्य सरल मार्ग चुना और कहा :

*कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।*
*आदि अंत सब सांधिया, दूजा देखूं काल।।*

उनके इस स्मरण-मार्ग में साधना और साध्य स्वतः एकाकार हो जाते हैं तथा चिंतन के चक्रों से मनुष्य मुक्त हो जाता है। कबीरदास मनुष्य के हृदय की शुद्धता, सच्ची भावना और उसकी तीव्रता को धर्म-साधना की अंतिम परिणति घोषित कर साध्य-साधक की ऐसी एकता स्थापित कर देते हैं, कि वह जनसामान्य को ज्ञानी से भी अधिक सुलभ हो जाती है। प्रेम-भक्ति की यह ज्योति जिसके हृदय में जल उठती है, वह उसे स्वतः ही जान लेता है, किसी धर्मोपदेशक की सहायता उसके लिए अपेक्षित नहीं होती :

*हिरदा भीतरि लौ बले, धूंआ न प्रकट होइ।*
*जाके लागी सौ लखे, जिंहि लाई सोइ।।*

जनसामान्य सदैव दीन-हीन और साधन-विहीन रहा है, इसलिए उच्च

वर्ग के जीवन-स्तर को पाने के लिए वह कभी-कभी प्रलोभन का शिकार हो जाता है। इस प्रलोभन से उसे अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। कबीरदास ने उसे जीवन के यथार्थ की ओर आकर्षित किया। संसार के झूठे रंगों में भूलने से उसे बचाने के लिए वे बहुत सरल शब्दावली में कहते हैं :

*ऐसा यह संसार है, जैसा सैंबल फूल।*
*दिन दस के व्यौहार कों, झूठे रंग न भूल।।*

उच्च वर्गों के अहंकार को तोड़ते हुए वे संसार की निस्सारता भी बहुत ही स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं :

*सातों सबद जो बाजते, घर-घर होते राग।*
*ते मन्दिर खाली पड़े, बैठण लागे काग।।*

लोकाचारों में भी धर्म का गहरा प्रवेश था, जिसे कबीरदास ने बहुत दूर तक समझा था। सामान्य भजन-पूजन से आरंभ कर आचरण की विभिन्न सीमाओं तक अनेक प्रकार के धर्माडंबर आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोगों ने फैला रखे थे। जीवन के सुख-भोग के अतिरिक्त उनके पास अन्य कोई कार्य ही नहीं था। इसलिए वे अवकाश के समय में विभिन्न धर्माचारों का सहारा लेते थे। सामान्यजन जिसे दिन-भर श्रम करने से ही अवकाश नहीं था, धीरे-धीरे हीन-भावना का शिकार होता जा रहा था। कबीर ने उन धर्माचारों के विरुद्ध आवाज उठाकर विशिष्ट वर्ग को फटकारा और सामान्य जनता की इस हीन-भावना को तोड़ा कि शायद अर्थ-संपन्न मनुष्यों के समान पूजापाठ न कर पाने के कारण वह मोक्ष-मार्ग की अधिकारी नहीं है। उन्होंने कहा :

*कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।*
*मन न फिरावै आपणा, कहा फिरावै मोहि।।*

निश्चय ही कबीर का यह संदेश उनके काल के हर सामान्य व्यक्ति को अपने अनुकूल प्रतीत हुआ होगा और आज भी उसके लिए इससे अधिक अच्छा और सच्चा मार्ग क्या हो सकता है कि वह केवल अपने मन को वश में करके सभी सिद्धियां प्राप्त कर ले। आर्थिक दृष्टि से विपन्न मनुष्य धनवानों की तरह काबा और काशी की यात्राएं नहीं कर सकता और न उस यात्रा

में ईश्वर को पाने की सच्ची साधना का ही समाहार है। उस समय धनवान लोग पैसे के बल पर मथुरा, द्वारिका और काशी जा सकते थे, किंतु दीन-हीन सामान्यजन के लिए तो सबसे अच्छा मार्ग वही था, जो कबीरदास ने बतलाया। आज भी जनसामान्य उन्हें इसीलिए प्यार करता है, क्योंकि वे उसके लिए हर कठिन मार्ग को सरल बनाते रहे हैं। देखिए, ईश्वर के प्रकाश को पाने के लिए वे क्या कहते हैं :

*कस्तूरी कुंडल बसे, मृग ढूंढ़ै बन मांहि।*
*ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियां देखे नाहिं।।*

कबीरदास ने संसार की निस्सारता को बारंबार चित्रित किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे सांसारिक जीवन के विरुद्ध हैं। वस्तुतः वे अर्थ और सत्ता के अहंकार की ऊंचाइयों को तोड़कर सामान्यजन को एक खुला आकाश सौंपना चाहते हैं। इसीलिए वे ऊंची अट्टालिकाओं में रहने वाले अहंकार-ग्रस्त लोगों को आवाज देते हैं :

*कबीर कहा गरबिया ऊंचे देखि अवास।*
*काल्हि परयों भ्वे लैटणा, ऊपर जामै घास।।*

जिस प्रकार ऊंचे भवनों वाले व्यक्तियों को कबीर चेतावनी देते हैं, उसी प्रकार वेदपाठी पंडितों के गर्व को भी वे बहुत निर्भीक होकर तोड़ते हैं :

*चारिऊं वेदि पठाहि कर, हरि सूं न लाया हेत।*
*बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूंढ़े खेत।।*

वास्तव में पंडित विवाद करते रह जाते हैं और लक्ष्य तक वही पहुंचता है, जो जीवन के सत्य पर ध्यान केंद्रित करता है। कबीर ने पंडितों के आडंबर को बहुत खरे शब्दों में तोड़ा है। वे कहते हैं :

*करता दीसे कीरतन, ऊंचा करि करि तुण्ड।*
*जाणे बूझे कुछ नहीं, यों ही आंधा रुण्ड।।*

अपनी इस स्पष्टता के कारण ही कबीरदास सामान्यजन के हृदय में अत्यंत प्रेम-पूर्ण स्थान बना लेते हैं। वे निरक्षर जनता के कंठ में उतरने वाली

सीधी-सी बात कहते हुए पंडितों को फटकारते हैं :

*पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।*
*एकै आखर पीव का, पढ़े सु पंडित होइ।।*

कबीर के समय में धन और धर्म के ठेकेदारों के जीवन में नारीविलास की भी प्रधानता थी, जिससे प्रायः सामान्य निर्धन जनता त्रस्त रहती थी। इसीलिए उन्होंने कामी पुरुषों को भी अनेक रूपों में फटकारा है :

*सुंदर तें सूली भली, बिरला बंचे कोइ।*
*लोह निहाला अग्नि में, जलि बलि कोयला होइ।।*

कबीर ने विषयी मनुष्यों को सर्प की उपमा दी है :

*विषै कर्म की कैंचुली, पहरि हुआ नर नाग।*
*सिर फौडैं सूझै नहीं, को आगिला भाग।।*

कबीर की ये उक्तियां सामान्यजन के हृदय को सहज रूप में अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। एक ओर तो वे धनी-पंडित और सत्ताभोगी विशिष्ट वर्ग के अहंकार पर चोट करते हैं और दूसरी ओर असहाय, असमर्थ और दीन जनता को समस्याओं की उलझनों से बचाकर विवेक का मार्ग भी दिखाते हैं। उन्होंने कुसंगति से बचाकर अच्छे मनुष्यों का साथ करने का पथ प्रशस्त किया और कहा :

*मूरख संग न कीजिए, लोहा जल न तिराइ।*
*कदली सीप भवंग मुख एक बूंदि तिहुं भाइ।।*

उच्च कुल में जन्म लेने के कारण अहंकार करने वाले मनुष्यों को वे आक्रोशपूर्वक समझाते हैं :

*ऊंचे कुल का जनमिया, जे करणी ऊंच न होइ।*
*सुबण कलस सुरा भरा, साधू निन्दै सोइ।।*

ऐसे लोगों की संगति से बचाकर सामान्यजन को वे साधु की संगति की प्रेरणा देते हैं :

*कबीर संगति साधु की, हरै और की व्याधि।*
*संगति बुरी असाधु की, आठों पहर उपाधि।।*

उन्होंने साधु अर्थात सज्जन की संगति को सभी प्रकार की उपलब्धियों का सहज मार्ग घोषित किया है :

*मथुरा जावै द्वारिका, जावै जगनाथ।*
*साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ।।*

सामान्य जनता कबीरदास के काव्य की इस सहज़ निर्दिष्टता पर ही रीझी थी और आज भी रीझी हुई है। आज भी गांव-गांव और घर-घर उनके ये स्पष्ट उपदेश गूंज रहे हैं :

*ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोइ।*
*आपन को सीतल करे, और हु सीतल होइ।।*
*जाकौ जता निरमया, ताकौं तैता होइ।*
*रती घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटै कोइ।।*

अकर्मण्य होकर बैठ जाने वाले या फिर दुष्कर्मों में प्रवृत्त होकर सुफल के लिए रोने वाले मनुष्यों के निकट आज भी कबीरदास का यह दोहा कोई भी राह चलता मनुष्य गुनगुना उठता है :

*करता था तौ क्यों रमा, अब करि क्यौं पछिताइ।*
*बोवै पेड़ बबूल का, अंब कहां ते खाइ।।*

सामान्यजन को आज भी उनकी इस वाणी पर विश्वास है कि जिसके सिर पर ईश्वर का हाथ है, उसका इस संसार में कोई भी किसी भी प्रकार से अहित नहीं कर सकता। आस्था का यह संदेश आज भी जनसामान्य के कंठ और मन में गूंज रहा है :

*कबीर तूं काहै डरै, सिर पर हरि का हाथ।*
*हस्ती चढ़ि नहि डोलिये, कुकर भूखें साथ।।*

वस्तुतः कबीरदास अपने युग के सभी प्रकार के वात्याचक्रों से सामान्य जनता का त्राण करने के लिए उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपनी ओजमयी वाणी

से जीवन को आत्म-ज्योति में स्नान कराया। वह ज्योति आज भी बुझी नहीं है। आज भी खेत-खलिहानों और कल-कारखानों में काम करता हुआ जनसामान्य कबीर के दोहे गुनगुना कर सुख-संतोष प्राप्त करता है। सूर और तुलसी ने भी जन-हृदय को प्रभावित किया है, किंतु कबीर के प्रभाव का तो ढंग ही अलग है। यहां आकर मनुष्य को न तो अपने विषय में किसी दर्शन या संस्कृति के रहस्य समझने पड़ते हैं और न जगत एवं ईश्वर के विषय में किसी विचार-परंपरा और कथा की कड़ियां सुलझानी पड़ती है। स्वयं को निष्कपट रखकर सहज कार्य करता हुआ ईश्वर-विश्वासी जन वह सब प्राप्त कर लेता है, जिसे बड़े-बड़े ज्ञानी-योगी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। इसीलिए इस सहज मार्ग के उपदेशक कबीर का सामान्यजन इतनी शताब्दियों के बाद भी विस्मरण नहीं कर सके हैं और न कर पाएंगे।

# कबीर का काव्य-कौशल

## डॉ. गुलाब राय

महात्मा कबीर हिंदी-काव्यक्षेत्र में निर्गुणधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके नाम से एक देशव्यापी पंथ की स्थापना हुई जिसकी परंपरा आज तक चली आ रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक तत्वों की गूढ़ता, उनके हठयोग की दुर्गम साधना, उनकी नैतिक चेतावनियों की मार्मिकता तथा एकात्मवाद पर निर्धारित कीरी-कुंजर और ब्राह्मण-शूद्र की समता-भावना की प्रायः सभी लोगों ने मुक्त कंठ से सराहना की है, किंतु उनकी कविता के काव्यतत्व के संबंध में लोग प्रश्नवाचक चिन्ह के साथ अपनी स्वीकृति देते हैं। कुछ आलोचकगण उनको छंदशास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ बतलाते हैं और उनके भावपक्ष की श्रेष्ठता को दबे कंठ से स्वीकार करते हुए भी कलापक्ष की पुष्टता में संदेह प्रकट करते लग जाते हैं।

कवि के हृदय की नैसर्गिक स्पंदनधारा कविता में भी गति और लय उत्पन्न कर देती है। हृदय का ओज वाणी के ओज में परिणत हो जाता है। मन का साम्य रचना को भी संगीतमय बना देता है। यही कारण है कि कबीर के गीत सूर और मीरा के गीतों की भांति हृदय की गति के साथ संगीतलहरी प्रवाहित करते हुए देश के इस कोने से उस कोने तक गाए जाते हैं। कबीर के पदों को उनके नाद-सौंदर्य के कारण ग्रामीण लोगों ने भी अपनाया है। उनके शब्दों में गीतकाव्य के सभी लक्षण पाए जाते हैं। वे स्वतः पूर्ण हैं और उनमें गेयत्व प्रचुर मात्रा में है। उनमें एक विशेष आत्मनिवेदन की भावना है।

कबीर की भावुकता कहीं-कहीं हठयोग के सैद्धांतिक निरूपण में अवश्य दब गई है, किंतु अधिकांश पदों में वह प्रातः-समीर के सौरभ की भांति प्रस्फुटित होती रहती है।

हठयोग-संबंधी कुछ पद लंबे भी हो गए हैं किंतु अधिकांश पद अपने छोटे आकार के कारण अपने गेयता के पोषक बन जाते हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने हठयोग के साथ शृंगारिकता और संगीतमयता का अपूर्व सम्मिश्रण कर दिया है:

*कैसे दिन कटिहैं जतन बताए जइयो*
*एहि पार गंगा वही पार जमुना,*
*बिचवा हमको मड़इया छबाए जइयो।*

इसमें गंगा और जमुना इड़ा और पिंगला-नाड़ियों के द्योतक हैं। उलटवांसियों, रूपकों ओर अन्योक्तियों को छोड़ कर, जो अपने विषय की रहस्यमयता के कारण गूढ़ हो गए हैं (कबीर ने स्वयं ही कहा है—*सैना-बैना करि समझाओ गूंगे को गुर भाई*), कबीर के अधिकांश पदों में प्रसाद गुण भरपूर मात्रा में मिलता है। वह जनता के कवि थे। दीनों और जीवमात्र के उद्धार के लिए वह आए थे— *साहब का परवाना लाए हंस उबारन आए*। जो लोग जीवन का एक ध्येय लेकर आते हैं और जो जनता में अपने विचार का प्रसार करना चाहता हैं, वे प्रसाद गुण की उपेक्षा नहीं कर सकते। *सहज मिले सौ दूध सम, मांगा मिले सो पानि, कहे कबीर वह रक्त सम जामे ऐंचा तानि* जैसा दोहा याचक में स्वाभिमान की भावना का पोषण करता है। *दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम* दोहार्द्ध ने लोकोक्ति का रूप धारण कर लिया है और यह चारों ओर मन भटकाने वाले लोगों को एक निश्चय कर आरूढ़ होने को बाध्य करता है। *जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ; मैं बौरी ढूंढ़न गई, रही किनारे बैठ* साधक के लिए आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों ही क्षेत्रों में आशा, साहस और उत्साह की संचार करने वाली उक्ति बन जाती है। कबीर में ऐसे रत्न बिना खोजे ही किनारे पर बैठने वाले को मिल जाते हैं। कबीर ने अपनी उपमाओं और रूपकों, दृष्टांतों आदि के फतबेपन के कारण अपनी कविता के प्रसादगुण को और भी निखार दिया है। उनकी

उपमाएं और रूपक अधिकांशतः जीवन से ही लिए गए हैं। उनके रूपकों की सांगना हमारे सामने चित्र-सा उपस्थित कर गंभीर तथ्यों को हृदयंगम कराने में सहायक होती है :

*गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है गढ़-गढ़ काढ़ै खोट।*
*अंतर हाथ सहार दे बाहर बाहै चोट।।*

★ ★ ★

*माला आवत देख कै कलियन करी पुकार।*
*फूली-फूली चुन लिए काल्हि हमारी बार।।*

कबीर के शृंगारिक रूपकों में माधुर्यगुण छलकता हुआ दिखाई देता है। *बालम आओ हमारे देह रे, तड़पे बालम बिना मोर जिया, कौन रंगरेजवां रंगे मोर चुनरी* आदि पदों की पूर्वी भाषा शृंगारिकता को प्रायः और भी गहरा रंग देती है। कबीर के हठयोग तथा तत्वज्ञान-संबंधी पदों में हमें ओज के दर्शन होते हैं। *कूरम सेस किरकिला धनंजय देवदत्त कहं देखो। चौदह इन्दी चौदह इन्द्रा इन में अलख न पेखो* पद कबीर के दार्शनिक ज्ञान का परिचायक है।

कबीर चाहे पढ़े-लिखे न हों, वह बहुश्रुत अवश्य थे। वह एक सिद्ध कवि की भांति काव्य की परंपराओं, कवि-समय आदि से परिचित थे। साहित्य की परंपरागत भाव-संपत्ति का दाय उनको प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ था। तभी तो उनमें सूर-तुलसी आदि महाकवियों के साथ भावसाम्य के दर्शन होते हैं। हंस के नीर-क्षीर विवेक की बात को कबीर और तुलसी ने समान रूप से अपनाया है :

*हंसा बक एक रंग लखि चरै एक ही ताल।*
*छीर नीर वे जानिए बक उघरै तेहि काल।।*

तुलसीदास जी ने भी इसी कवि-समय का उपयोग करते हुए लिखा है :

*चरण चोंच लोचन रंगौ चलौ मराली चाल।*
*क्षीर नीर बिवरन समय बक उघरत तेहि काल।।*

चातक की अनन्यता के भी कबीर और तुलसी, दोनों एक ही परंपरा के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। कबीरदास ने कहा है :

*चातक सुतहि पठवही आन नीर मत लेहि।*
*मम कुल यही सुभाव है स्वाति बूंद चित देहि।।*

तुलसीदास अपनी कल्पना के विस्तार से चातक का प्रेतलोक में भी स्वाति-जल से प्रेम दिखाते हैं :

*चातक सुतहि देत सिख बार ही बार।*
*तात न तर्पन कीजिए बिना वारिधर धार।।*

सेमल का फूल संसार की निस्सारता का प्रतीक माना गया है। इस कवि-प्रशस्ति का कबीर और सूर दोनों ही ने बड़ी मार्मिकता से उपयोग किया है। कबीरदास कहते हैं :

*सेमर सुवना सेइया दुई टेढ़ी की आस।*
*टेढ़ी फूटी चटाक दे सुवना चला निरास।।*

कबीरदास इस उदाहरण की व्यंजना पाठक पर ही छोड़ देते हैं ; किंतु सूरदास उस व्यंजना को स्पष्ट कर गाते हैं :

*रे मन छाड़ विषय को रचिबो।*
*तू कत सुवा होत सेमर कौ अंतहि कपट न बधिवौ।।*

वह एक जगह और भी कहते हैं :

*रसमय जानि सुवा सेमर कौ चौंच छालि पछतायौ।*

रात को चकवा-चकई के रैन-वियोग का वर्णन हमारे कवियों को बहुत प्रिय है। इस कवि-समय को अन्योक्ति के रूप में कबीर और सूर ने समान रूप से अपनाया है — *चल चकई वासर विषै जहां न रैन वियोग*। तुलसीदास के साथ तो बहुत-सी बातों में कबीर का भावसाम्य है। जनता की भेड़िया-वृत्ति का दोनों ने ही उल्लेख किया है। कबीर कहते हैं — *ऐसी गत ठंठार की ज्यों गाडर की ठार*। इसी से मिलता-जुलता पद तुलसीदास का है— *तुलसी भेड़ों की धसान जड़ जनता समान*। *भय बिनु होय न प्रीति* का भाव दोनों में समान है।



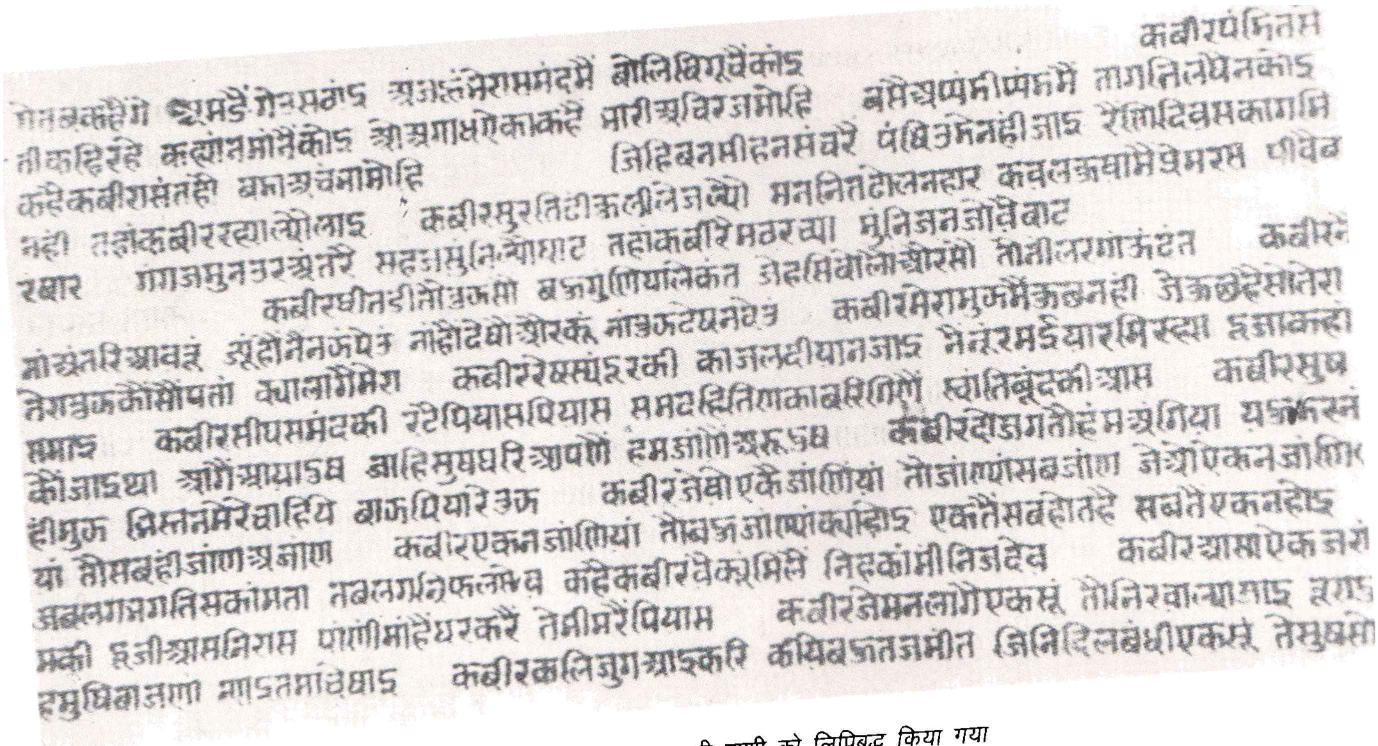
मगहर मे स्थापित कबीर साहब का एक भव्य स्मारक (छाया : शमशेर आलम खान)



काशी नरेश वीर सिंह द्वारा निर्मित कबीर की समाधि
(छाया : शमशेर आलम खान)



*कबीरचौरा मठ, वाराणसी स्थित पुस्तकालय में संग्रहीत*
*कबीर–वाणी की पांडुलिपि (सौजन्य : कबीर मंदिर, कबीरचौरा, वाराणसी)*



संवत 1561 में कबीर साहब की वाणी को लिपिबद्ध किया गया
उसी का एक पृष्ठ (सौजन्य : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

कबीर ने संस्कृत विचारपरंपरा को बहुत-कुछ अपनाया है— *भृंग ज्यों कीट को पलटि भृंगे कियौ* में वेदांतियों के कीट-भृंग-न्याय की झलक है और *है साधु संसार में कमला जल माहीं* में कमलपत्र-भिवाम्भसि की छाया। *सब बन चन्दन नाहि, सूरों का दल नाहिं* में उलट-फेर दिखाई पड़ता है। ऐसी ही उलट-पलट नीचे के दोहे में है :

*वृच्छ कबहूं नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।*
*परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर।।*

इसका संस्कृत का बिंब रूप देखिए :

*पिवन्ति नद्यः स्वयमेवनाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।*
*नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतांविभूतयः।।*

*असितगिरि समस्यात् कज्जल सिन्धु पात्रे,*
*सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रसूर्वी*
*लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं*
*तदपि तवगुणानामीश पारं न याति*

*महिम्नस्तोत्र* की इस उक्ति को सूर और तुलसी द्वारा अपनाया गया। इसे कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया था :

*धरती सब कागद करूं, लेखनी सब बनराय।*
*साह समुद्र की मसि करूं, गुरु गुण लिखा न जाय।।*

इन उदाहरणों के विस्तार से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि क़बीर के पास किसी कवि को कवि बनाने वाली भावसंपत्ति प्रचुर मात्रा में थी। बिना पढ़े भी उनको अच्छी कवि-शिक्षा प्राप्त हो गई थी और उसका प्रयोग भी उन्होंने कौशल के साथ किया था।

यद्यपि कबीरदास ने अलंकारों की परवाह नहीं की है फिर भी उनकी कविता में स्वाभाविक रूप से अनेक अलंकार आ गए हैं। रूपक और अन्योक्तियां तो उनके रहस्यमय विषय के अनुकूल ही हैं।

*गगन धरा घहरानी* और *पीयत प्याला प्रेम का सुधरे सब साथी* तथा *रस गगन गुफा में अजर झरे* आदि अनुप्रास के अच्छे उदाहरण हैं। यमक के

भी एक-दो उदाहरण देखिए :

*कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।*
*जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।।*

★ ★ ★

*एक दिन ऐसा होइगा जो काहू को नांहि।*
*घर की नारी को कहै तन की नारी जांहि।।*

*घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय* में विरोधाभास की छटा है। *चांद विदूना चांदना बिनु गुन बाजे* में विभावना है।

कबीर की उपमाएं सजीव हैं और वे उनके लोकव्यवहार-ज्ञान की परिचायक हैं जैसे *बाती दीप की कटि उजियारा होय* आदि मौलिक उपमाएं हैं। कबीर का भाषा पर पूरा-पूरा अधिकार था। वह अपनी बात को जोरदार शब्दों में कहना जानते थे। साहित्यिक चोरों को उन्होंने जोरदार शब्दों में डांटा है— *लाया साखी बनाय कर इत-उत अच्छर काट, कहे कबीर कब लग जिए जूठी पत्तल चाट*। ऐसी ही जोरदार शब्दावली का एक और उदाहरण लीजिए— *कहे कबीर कब तक रहे रूई लपेटी आग*। कबीर ने मुहावरों से भी अपनी भाषा को सजीवता प्रदान की है — *पांव कुल्हाड़ी मारिया मूरख अपने हाथ।* कबीर की भाषा में ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी— सभी का पुट मिलता है। इसीलिए शुक्लजी ने उनकी भाषा को खिचड़ी भाषा कहा है। अंत में उनकी भावसुकुमारिता के दो-एक उदाहरण देना भी आवश्यक है। वह अक्खड़ ही नहीं थे, उनमें बड़े कोमल भाव भी थे :

*सुपने में साईं मिले सोवत लिया जगाय।*
*आंख न खोलूं डरपता मत सपना ह्वै जाय।।*
*साईं मेरे बहुत गुन लिखे जु हिरदे मांहि।*
*पिउ न पानी डरपता मत वे धोए जाहिं।।*
*नैनों अंदर आव तू नैन झांपि तोहि लेऊं।*
*ना मैं देखूं और को ना तोहि देखन देऊं।।*

**इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीरदास में जैसे कलापक्ष की कमी नहीं, वैसे ही भावपक्ष की भी कमी नहीं है।**

# कबीर की भावात्मक अभिव्यक्ति

*डॉ. धर्मपाल मैनी*

महापुरुषों का संदेश महान होता है। दार्शनिक, चिंतक, धर्मोपदेशक, समाज-सुधारक, राजनैतिक नेता, आर्थिक नीति-निर्माता तथा साहित्यिक अगुआ भी अपने संदेश को जैसी प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति दे पाते हैं, उसी से जगत में उसका महत्व स्थापित होता है। मात्र समाज-सुधारक एवं धर्मोपदेशक कहकर कुछ प्रतिष्ठित आलोचकों ने कबीर की सशक्त साहित्यिक अभिव्यक्ति को काव्य से ही बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया। लेकिन न केवल उनका गरिमामय संदेश, अपितु महिमामय अभिव्यक्ति भी इतनी सहज प्रेषणीय होकर ऐसा स्थायी प्रभाव छोड़ गई है, जो हिंदी साहित्य का अनायास ही स्पृहणीय शृंगार बन गई है।

मूलतः कबीर काव्य-सृजन का लक्ष्य लेकर नहीं आए थे, अतः उन्हें किसी शैली विशेष का आश्रय ढूंढने की आवश्यकता न थी— संभवतः यही बात उनकी शैली के लिए सर्वाधिक गरिमामय सिद्ध हुई। स्वानुभूत सत्यों को जब वे अभिव्यक्ति दिए बिना रुक नहीं सके, तो वही उनका सृजन हो गया और उनकी इस अनुभूति की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही उनकी शैली का शृंगार। उनकी अनुभूति को अपने अनुभव से अनुभव कर सकने की क्षमता के अभाव में हम उसका बौद्धिक विश्लेषण कर विचार से उस आनंद को अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन यदि सहृदय होकर उनके अनुभव तक पहुंच सकें, तो अनायास ही आनंद विभोर हो जाते हैं। उनकी

उपदेशात्मक अभिव्यक्ति को प्रायः सभी ने व्याख्यायित किया है, हम उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति से अभिभूत होने का प्रयत्न करते हैं।

वैयक्तिक अनुभूति की सशक्त अभिव्यक्ति ही उत्कृष्ट सृजन की आधारभूमि है। निष्कलुष भाव इस अनुभूति का स्रोत है। कबीर का भावप्रवण भक्तहृदय भावावेश में अपूर्व तन्मयता एवं तल्लीनता से आराध्य की अनुभूति को अथवा उनकी अनुभूति के प्रयत्न में अपने अंतःकरण के गहनतम भावों को अभिव्यक्त करता रहा है। उनकी आत्मविह्वलता या आनंद विभोर होने की अवस्था ने अनायास ही उनकी वाणी में संगीतात्मकता भर दी है। प्रायः इसका माध्यम हैं 'पद' या 'सबद'। साखियों में भी कहीं-कहीं उनकी भाव-प्रवणता के छींटे मिलते हैं। संतों के पास पदों में भावाभिव्यक्ति की यह परंपरा नाथों के माध्यम से बौद्ध-सिद्धों के चर्यापदों से ही आई है। संत बनने से पहले उनका भक्त बनना भी आवश्यक था। अपनी संपूर्ण भावनाओं को उन्होंने जिस सहज भाव से भगवतअर्पण किया है, वह पाठक को भी अनायास ही आनंदमय कर देता है। ऐसे पदों में भावों से भी अधिक उनकी अनुभूति साकार हुई है। स्वांतः सुखाय गाए हुए इन पदों में मूलतः जन-कल्याण की भावना नहीं है, लेकिन अनायास ही उनसे भक्ति की प्रेरणा अवश्य मिलती है। स्वयं भक्ति का रसों में पूर्ण स्थान न होने के कारण वह अन्यान्य रसों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। जब विरहिणी आत्मा प्रिय परमात्मा से मिलने के लिए विह्वल हो उठती है, तब आनेवाले प्रत्येक राहगीर से अपने प्रिय का संदेश पूछती है, कभी उसके विरह में देह को मसि रूपेण जलाकर धुंआ बनकर ही उसके पास पहुंचना चाहती है। उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति इसमें है कि वह उस अग्नि को बुझने नहीं देना चाहती :

*यह तन जालों मसि करूं, ज्यूं धूंवा सरग्नि।*
*मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्नि।।*

विह्वल प्रेमिका का घनीभूत विरह, भाव-प्रवण सहृदय को भी अपनी अवस्था की अनुभूति करा देता है— इसी में कवि की शैली की गरिमामय प्रेषणीयता है। स्थूल लौकिक उदाहरणों से कवि सूक्ष्म को रूपायित कर देता

है। धुएं के माध्यम से मानो वह विरह को ही साकार कर रहा हो। कुल मिलाकर उसकी उक्ति मर्मभेदी सिद्ध होती है और यही कवि की प्रेषणीयता का लक्ष्य है।

कबीर मात्र विरह को ही चित्रित करने में सफल हुए हों, ऐसी बात नहीं अपितु उनका भावुक प्रेमी मिलन के क्षणों को भी बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत कर सका है। जब कभी उनका मिलन हो गया है, तब तो वे लौकिक संयोग शृंगार के चित्रों से भी कहीं अच्छी तरह उभर आए हैं। 'भर्तार राम' प्रायः सभी संतों के घर चले आए हैं। यही उनके जीवन का चरम साध्य है। तब तो आनंदोल्लास देखते ही बनता है। भावाभिव्यक्ति नितांत स्वाभाविक, सरस एवं मधुर शब्दावली में हुई है। मधुर गुण और मधुरावृत्ति उनकी इस शैली का प्राण-तत्व है। इसमें प्रायः व्यास शैली का आश्रय लिया गया है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि भावावेश पर विशेष बौद्धिक-नियंत्रण या कृत्रिम बंधन नहीं होता। एक बार उसे अपने प्रिय की आत्मीयता का अनुभव होना चाहिए, फिर उसके बिना न उसकी स्थिति रहती है न सत्ता। उसे मिलने के लिए ही उसने शृंगार किया है और उसकी 'बहुरिया' बनी है। इस ऐक्यविधान के बाद संसार से क्या लेना। कितनी भाव-भीनी अभिव्यक्ति यह है :

*हरि मेरा पीव भाई, हरि मेरा पीव।*
*हरि बिन रहि न सके मेरा जीव।।*
*हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।*
*राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।।*
*किया स्यंगार मिलन के ताईं।*
*काहे न मिलौ राजा राम गुसाईं।।*
*अब की बेर मिलन जो पाऊं।*
*कहै कबीर भौ-जलि नहीं आऊं।।*

प्रेम के चरम-सांसारिक दांपत्य के माध्यम से कबीर ने अपने भावपूरित हृदय को ऐसी वाणी दी है, जो किसी भी साहित्य का अमर शृंगार हो सकती

है। पद में गेय तत्व और उसकी संगीतात्मकता भावों के सुर, ताल और लय का अनुसंधान करती चलती है। ब्रजभाषा के प्रयोग ताल और लय का अनुसंधान करती चलती है। ब्रजभाषा की कोमल-कांत मधुर शब्दावली ने जहां संगीतात्मकता को प्रश्रय दिया है, वहीं प्रेम की मधुरता को मंदिर भी बना दिया है। भावों को वहन कर कवि की अनुभूति को सहृदय तक ले जाने वाली शैली संभवतः सर्वोत्कृष्ट शैली होती है। कबीर का यह पद इसका प्रमाण है। अनायास ही अलंकार— उनकी वाणी का आभूषण बन गए हैं। सादृश्यमूलक अलंकार उनमें भी विशेषतः रूपक एवं उपमा — उनके बहुत से पदों में मिलते हैं। लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक से उन्होंने अपना संबंध जोड़ा है। अन्यान्य बिंबों का विधान कर मूर्त की चित्रमयता का तो कहना ही क्या, अमूर्त को भी मूर्त कर दिया है। इस भावात्मक अभिव्यक्ति में प्रायः पदों का आश्रय लिया गया है, जिसका आधार बहुधा राग है। इसलिए कबीर के बहुत से पदों को रागों के अंतर्गत रखा गया है। अकेले *आदिग्रंथ* में ही कबीर की वाणी को 18 रागों में संग्रहीत किया गया है। यह प्रथा परवर्ती संतों में भी चलती रही। इसमें एक ओर अनुभूति है, तो दूसरी ओर लौकिक दैनंदिन व्यवहार का स्वरूप, एक ओर मार्मिक विदग्धता है, तो दूसरी ओर संवेदनशीलता, एक ओर अपूर्व तल्लीनता एवं तन्मयता है, तो दूसरी ओर दोनों में अद्भुत संतुलन। उनका यह आत्म-निवेदन और तन्मयता और घनीभूत होकर न केवल अनुभूति के स्तर पर अलौकिक से आत्मीयता स्थापित कर लेती है, अपितु उनकी अभिव्यक्ति भी उसी धरातल पर होती है तो वहां रहस्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं। जब भक्त का अनन्य समर्पण इतना प्रबल हो जाता है कि उसका 'अहं' पूर्णतया विगलित हो जाता है और उसका अपना कोई अस्तित्व भी नहीं रहता, तब उसकी अभिव्यक्ति देखते ही बनती है :

*तू तू करता तू भया मुझ में रही न हूं।*
*बारी फेरी बलि गई जित देखो तित तू।।*

चारों ओर मात्र उसी के दर्शन होते हैं, क्योंकि कवि का अपना व्यक्तित्व तो तिरोहित ही हो गया है। 'तू' शब्द के बारंबार प्रयोग से उसकी

बढ़ती हुई आत्मीयता का परिचय मिलता है। 'जित' और 'तित' उसकी सर्वत्र व्यापकता को सरस काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने में समर्थ हैं। फ, ब, भ, म, आदि वर्णों का प्रयोग शैली के माधुर्य को बढ़ाता हुआ भावों को भी मृदु करता है एवं ग्राह्य बना देता है। समास शैली का प्रयोग स्पष्ट ही है। सरल एवं सरस शब्दावली के माध्यम से कवि की प्रेषणीयता पर्याप्त प्रभावोत्पादक बन सकी है। कहीं-कहीं कबीर ने दाम्पत्य प्रतीक का आश्रय लिया है, तो मिलन साकार हो गया है। उनकी आध्यात्मिकता के माध्यम से जिस सात्विक पवित्रता को अभिव्यक्ति मिलती है, वह शाश्वत प्रभाव छोड़ जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सहृदय कबीर का कवि किसी भी शृंगारिक कवि से कम भावुक नहीं और उसकी अभिव्यक्ति तो और भी अधिक सहज, स्वाभाविक एवं सरस बन गई है, क्योंकि लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति में जो सामाजिक संकोच बना रहता है, अलौकिक की अनुभूति को अभिव्यक्ति देते हुए कबीर से वह स्वतः ही छूट गया था। संभवतः अपनी प्रेषणीयता के माध्यम से वह अपनी अनुभूति को इसलिए अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से सहृदय को अनुभव भी करा सके हैं। यह किसी भी कवि की अभिव्यक्ति की सफलता की कसौटी हो सकती है। इसीलिए हम कबीर को भावों का सफल चितेरा, अनुभव का सशक्त अभिव्यक्तिकार तथा अनुभूति को भी अनुभव करा देने वाला महान संदेश-प्रसारक कवि एवं सर्जक स्वीकार करते हैं।

# उलटवांसी शैली के प्रयोक्ता

## *डॉ. रमेशचंद्र मिश्र*

हिंदी साहित्य में *उलटवांसी* शब्द का प्रयोग आधुनिक काल की ही उपलब्धि कहा जा सकता है ; क्योंकि प्रयोक्ता संतों की वाणी में यह शब्द इसी रूप में प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। वैसे भारतीय साहित्य के आदि ग्रंथ *ऋग्वेद* से ही जन्म लेकर लौकिक संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषा साहित्य-धारा के प्रमुख तीर्थों का स्पर्श करती हुई नाम-रूप से नयापन धारण करती हुई, साधनाश्रयी, प्रतीक-जीवी, विरोधगर्भिता वाणी *उलटवाणी* शैली के रूप में गोरखनाथ के साहित्य में *उल्टी चर्चा* (*गोरखबानी*, पृष्ठ 142) नाम से पल्लवित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आगे चलकर संत कबीर ने उसे मध्ययुगीन हिंदी-निर्गुण-साहित्य में प्रचारित और प्रतिष्ठित किया। कबीर के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने इस शैली प्रयोग को सम्यक सामर्थ्यवान बनाया है। उन्होंने उलटवांसी-प्रयोग की जो विकास-रेखा खींची है, उसका अतिक्रमण आगे के प्रयोक्ता संत नहीं कर सके हैं। प्रायः सभी निर्गुणमार्गी संत इस शैली को अपनी अभिव्यक्ति का एक विशेष अधिकार-सा मान कर चलते रहे हैं। इस प्रकार *उलटवांसी* शैली नाम रूप से भिन्न होते हुए भी एक सुदृढ़ परंपरा का स्थिर विकास है। कबीर-बानी में *उलटवांसी* शब्द का प्रयोग तो नहीं मिलता; किंतु इसके समकक्ष *उलटवेद* या *उलटीवेद* (*कबीर ग्रंथावली*, पद 160) शब्दों का प्रयोग है। कबीर की अटपटी बानी के प्रभाव और प्रचार के कारण संभव है, बीसवीं सदी के प्रारंभ में, शैली के चमत्कार-सौंदर्य से प्रभावित होकर किसी आलोचक द्वारा ही शोध कर *उलटवांसी* शब्द का प्रयोग

किया होगा। संत-परंपरा की गद्दियों पर *उलटवांसी* को अन्य निकटवर्ती नामों से पुकारने की परंपरा को आलोचकों ने स्वीकार किया है और शायद संप्रदाय विशेष की गद्दियों से चलकर ही साहित्य-समीक्षा में *उलटवासी* नाम प्रचलित हुआ है। *उलटवांसी* शब्द की वर्तनी, अपने प्रकाशित रूप में 'ब' तथा 'व' दोनों अक्षरों के प्रयोग से *बांसी* और *वांसी* रूप में देखने को मिलती है।[1]

*उलटवांसी* शब्द के पर्याय के रूप में अनेक नामों का, जिनमें 'उलट' विशेषण का प्रयोग है, संत-साहित्य-प्रयोक्ताओं ने प्रयोग किया है। उनमें से कुछ प्रयोक्ता संतों ने अपनी वाणी के उलटेपन की सकारणता को आधार देने का भी प्रयत्न किया है। गोरखनाथ का कहना है कि जो पवन को उलटकर वाणी को पलट देते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी होकर अमृत का पान करते हैं— *उलटंत पवनं वाणी। अपीव जे ब्रह्म ग्यानी (गोरखबानी*, पृष्ठ 32) और ऐसी ही वाणी को गोरख ने *उलटी चर्चा (गोरखबानी*, पृष्ठ 142) नाम दिया है। उनकी मान्यता है कि गुरु विहीन लोक के द्वारा साधक को साधनाजन्य गुरुता प्राप्त कराने के लिए ही, वाणी द्वारा उन्होंने *उल्टी थापना* (*गोरखबानी*, पृष्ठ 50) स्थापित की है। गोरखनाथ के पश्चात निर्गुण संत-साहित्य में कबीर का ऐसा व्यक्तित्व है जो *उलटवांसी* द्वारा वेद-मार्ग या शास्त्र-लोक-परंपरा का अतिक्रमण करना चाहते थे। उनका कहना है कि जो भेरे पर चढ़कर सागर का संतरण करना चाहते हैं, वे मझधार में डूबते हैं और जो 'निराधार' होते हैं वे पार हो जाते हैं। पथ का अतिक्रमण करने वाले गंतव्य पर पहुंच जाते हैं और लीक पर चलने वाले बीच में ही लूट लिए जाते हैं।[2] वांणी की इसी ज्ञानगुरुता को उद्घाटित करने के लिए कबीरदास *उलटिवेद* के माध्यम से लोक-रूढ़ मान्यताओं का विरोध करते हैं :

*है कोई जगत गुर ग्यानी उलटिवद बूझे।*
*पांणी में अगनि जरै, अंधेरे कौं सूझै।।*

(कबीर ग्रंथावली, पद- 160)

---

1. *हिंदी संतों का उलटवांसी-साहित्य*, पृष्ठ 7-9 तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का पत्र (अप्रकाशित)
2. *कबीर ग्रंथावली*, सं. श्यामसुंदर दास, पृष्ठ 147

संत सुंदरदास ने *उलटवांसी* शब्द के समकक्ष *उलटी बात उलटी रीति, उलटा ख्याल* आदि शब्दों का सक्षम प्रयोग किया है।[1] इन्होंने उलटवांसी मूलक कथनों के लिए अपनी बानियों में पृथक से ही *विपर्ज्जय कौ अंग* या *विपर्यय शब्द कौ अंग* तथा *पूर्वी भाषा बरवै* शीर्षकों से कुछ साखियों और सवैया छंदों की रचना की है और अपनी वाणी के रहस्य को समझने के लिए अनुभव होने की सकारणता प्रस्तुत की है। सुंदरदास के बाद संत पलटू साहब की बानी में हमें *उलटावती* शीर्षक से कुछ उलटवांसी पदों का संग्रह मिलता है।[2] हो सकता है कि यह *उलटावती* शीर्षक उनके किसी शिष्य अथवा बानी-संग्रहकर्ता अथवा लिपिकार ने दे दिया हो; क्योंकि *उलटवांसी* के रूप में *उलटबात* का प्रयोग किसी छंद के अंतराल में नहीं आया है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में संत तुलसी साहब (हाथरस वाले) ने उलटवांसी जैसा ही *उलटमासी* शब्द शीर्षक में दिया है।[3] इस वर्ग के अंतर्गत भी कुछ उलटवांसी पदों का संग्रह है। साथ ही इनके अनेक पदों में *उलट* विशेषण से युक्त *उलटी रीति, उलटा शब्द, उलटी चाल, उलटवास* आदि अनेक शब्दों का साभिप्राय प्रयोग है। एक स्थान पर तो इन्होंने उलटवांसी शैली के प्रयोग का रहस्य-मंतव्य भी बताया है। उनका कहना है कि संतों की रहस्यमयी वाणी यद्यपि उलटी लगती है, पर गुरु के निर्देशन और निज अनुभव ज्ञान से उस रहस्य का मर्म समझा जा सकता है।[4] उनकी धारणा है कि विरोधमूलक प्रतीकों की योजनावाली रहस्य प्रधान ऐसी वाणी स्वयं में 'सुलटी' होने पर भी लोक को

---

1. अ. *सुंदर उलटी बात है समुझै चतुर सुजान।*
*सूबै काढ़े पकरि कै या मिनकी के प्रान।।*
— *सुंदर ग्रंथावली,* अंग- 20, साखी-7

आ. *जाकौ अनुभव होइ सु जानै सुंदर ऐसी उलटौ ख्याल।*
— वही, अंग- 22, सवैया- 3

2. *पलटू साहिब की बानी,* पहला भाग, कुंडलियां- 179

3. *तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली,* पहला भाग, पृष्ठ- 136

4. *उलटी चाल संत की बोली। बिन परचै को परदा खोली।*
*अस उलटी उन कही अगूढ़ा। पंडित भेष न जानै मूढ़ा।।*
*घट रामायण,* भाग-2, पृष्ठ 142

उलटी लगती है। देखिए :

*उलटवास संतन नें भाखी। जाकी समझ सूर कोई राखी।।*
*सुलटी को उलटी कर बूझा। उलटी सुलटी समझ न सूझा।।*
*अब याकौ इक सब्द सुनाऊं। उलटि सुलटि वोहि माहि दिखाऊं।।*[1]

उलट विशेषण युक्त *उलटवांसी* शब्द के समानार्थी शब्दों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी समकक्ष शब्द हैं, जिनका प्रयोग संत-बानियों में बहुलता से मिलता है। ऐसे प्रयोगों के निरीक्षण-परीक्षण से उलटवांसी शैली के लक्षण-प्रयोजनादि के निर्धारण में सहायता मिलती है। कबीर दास यदि *अकथ कथा* (*ग्रंथावली*, पृ. 93) या *अकथकहानी* (*ग्रंथावली*, पृ. 139) कहकर शैली में प्रयोग-विरोधतत्व को प्रधानता देते हुए उसकी सांकेतिकता और अर्थ-गंभीरता की ओर संकेत करते हैं, तो धनी धरमदास ने *अचरज ख्याल* (*धनी धरमदास की शब्दावली*, पृ. 32) ; मलूकदास ने *अजब कथा* (*मलूकदास की बानी*, पृ. 3) ; जगजीवन साहिब ने *न्यारी कथा* (*कथावली*, दूसरा भाग, पृ. 47) ; यारी साहिब ने *भेद की बात* (*रत्नावली*, पृ. 17) ; दरिया साहिब (बिहार वाले) ने *छपलोक की बात* (*दरियासागर*, पृ. *59)* ; दरिया साहिब *(मारवाड़ वाले)* ने *अनहद बानी* (*दरिया साहिब की बानी*, पृ. 5); बुल्ला साहिब ने *अचरज* (*बुल्ला साहिब का शब्दसार*, पृ. 14) ; चरनदास ने *गुप्त मर्म की बात* (*चरनदास की बानी*, भाग-2, पृ. 18)

दयाबाई ने *अटपटी बात* (*संत बानी संग्रह*, भाग 1, पृ. 172) ; भीखा साहिब ने *अकथ कथन* (*भीखा साहिब की बानी*, पृ 20); आधुनिक युग के राधास्वामी संप्रदाय के प्रवर्तक संत शिवदयाल ने *अंतर मुख शब्द* (*सार वचन छंद*, दूसरा भाग, पृ. 456) और *उलटी बात* (वही, पृ. 64) और संत मंगत राम ने *उलट भेद*, *गुप्त वाणी*, *उलट विचार*, *उलट मरम* (*श्री समता प्रकाश*, प्रथम अंग, प्रथम भाग, पृ. 48, 177, 213) आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों से विवेच्य शैली की सांकेतिकता व्यंजित होती है। इस प्रकार योगी कवि गुरु

---

1. *घट रामायण*, भाग–2, पृष्ठ 177

गोरखनाथ से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के संत मंगतराम तक की बानियों में कूटवर्ग की इस उलटवांसी शैली में रचित उलटवांसी पदों का विपुल भंडार हमें देखने को मिलता है। इस शैली के प्रयोक्ता प्रायः वे सभी साधक हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों को, सामाजिक रूढ़ियों-धारणाओं को वाणी की इस तीक्ष्ण सांकेतिक धार में अभिव्यक्त भी किया है और ध्वस्त भी। मौटे तौर पर कह सकते हैं कि सांकेतिक, विरोधपरक प्रतीकयोजना, चमत्कार विधायिका इसके गुण है। यह उलटवांसी शैली दो तीखे सींगों वाली गऊ है जिसकी नोक विपरीत दिशा में रहती है। यह गऊ देखने में तो भयानक लगती है, पर मरखनी नहीं है। उलटवांसी कथनों का विरोधी तत्व क्रिया के द्वारा स्थापित किया जाता है। अर्थात वाक्य की शक्ति संज्ञा या सर्वनाम में निहित न होकर क्रियापदों अथवा प्राणीकृत संज्ञा-सर्वनामों की प्रतीकात्मक क्रिया में निहित रहती है। वास्तव में इस रचना-पद्धति की अपनी कुछ विशेषताएं हैं, जिनको समझ लेने पर शैली के कर्म को, स्वरूप को सुगमता से समझा जा सकता है। ये विशेषताएं उलटवांसी शैली को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त करके प्रहेलिका, कुतूहलाध्यायी, कूट, बुझौवल, बाउल गीत (बंगाली), भारूड़गीत (मराठी), हियाली संज्ञक रचनाओं (राजस्थानी) तथा विदेशी भाषा-साहित्य में प्रयुक्त इशारियत, एनिग्मा पजिल आदि शैलियों से पृथक करके स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करती हैं।

वास्तव में उलटवांसी-पद अटपटी बानी के रूप में रचे गए हैं। इनके अटपटेपन को सुनकर श्रोता या पाठक विस्मय विमुग्ध होकर अवाक की-सी स्थिति में आ जाता है अथवा बकवास समझकर उसकी उपेक्षा कर देता है। किंतु, निर्गुण परंपरा मार्गी साधक जब गुरुकृपा, परंपरा, अवगाहन एवं चिंतन-मनन के माध्यम से, पद में प्रयुक्त संकेतों को समझने लगता है, तो उसे उसके पीछे निहित रहस्य उद्भासित होने लगते हैं। उलटवांसी पद में निहित अर्थ के परिवेश में पहुंचते ही पाठक को विशेष प्रकार की मानसिक तृप्ति अथवा लोकाचार-व्यवस्था-संबंधी विरक्ति का अनुभव होने लगता है। बात यह है कि उलटवांसियों के वर्ण्य विषय में साधना अथवा आध्यात्मिक अनुभवों

की अभिव्यक्ति के साथ ही परस्पर-व्यतिक्रम भी रहता है। इसलिए उलटवांसी को समझ लेने पर प्राप्त मानसिक तृप्ति पहेली, दृष्टिकूट, समस्यापूर्ति, बुझौवल, मुकरी आदि शैलियों में लिखित पदों को समझ लेने की अपेक्षा कहीं अधिक सघन होती है; क्योंकि उनमें परंपरावादी पंडिताऊ आचारहीन आडंबार करने वालों के प्रति चुनौती का स्वर नहीं मिलता। इन पदों में संत कवियों की स्वतंत्र प्रकृति अपनी विशेष शक्ति लेकर भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। उलटवांसी पदों में किसी-न-किसी प्रकार से जीवन और जगत की दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक समस्या के साथ रूढ़ परंपरा पर भी करारा व्यंग्य रहता है।

उलटवांसी शैली की दूसरी विशेषता यह है कि इन पदों में रहस्य, चमत्कार या अद्‌भुत तत्व की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखने को मिलती है और इस रहस्य या अटपटेपन का वहन प्रतीकों के माध्यम से होता है। वैसे तो सभी प्रकार की अनुभव-स्थिति भाषा की पकड़ में पूर्णतः नहीं आ पाती; शायद, विरोधाभासी उक्ति में अनुभूत परिस्थिति अधिक प्रखरता से अभिव्यक्त हो पाती है अथवा ऐसी अभिव्यक्ति में प्रयोक्ता को अधिक संतोष होता है। इसलिए प्रयोक्ता साधक अपने आध्यात्मिक सूक्ष्म विचार-तत्व को अथवा अनुभूति को विरोधगर्भित प्रतीकों की योजना द्वारा— विशेषतः विधि-विरोध एवं प्रकृति-विरोध प्रधान प्रतीक योजना द्वारा— अभिव्यक्त करने के ढंग को अपनाता है। प्रयोक्ता संतों ने ऐसी वैचारिक सूक्ष्म दशा को *गूंगे के द्वारा गुड़ खाने के अनुभव* के समान बताया है। इस अनुभव को संकेतों द्वारा ही समझा जा सकता है।[1]

उलटवांसी शैली की तीसरी सामान्य प्रवृत्ति उसके छंद-प्रयोग की है। आध्यात्मिक सूक्ष्मता को अथवा लोक-व्यवहार की विचार-दशा में देखी गई

---

1. (अ) *कहहिं कबीर गूंगै गुर खाया, पूछे तें का कहिया।*

(बीजक, शब्द 38)

(आ) *यह अचरज कासे अब कहिए, जिन देखो सुई जाने।*
*होई अचरज कों खोजैं, तब अचरज पहिचानौं।।*

(पलटू साहब की बानी, भाग–2)

विसंगति को प्रयोक्ता संत कवि असंगति युक्त, विरोधाभासी अतिशयता वाली अभिधा द्वारा व्यक्त करते रहे हैं। कथ्य की सूक्ष्मता अथवा विशदता की *साखी* जैसे लघु छंद की सीमा में अभिव्यक्ति प्रायः कम ही देखी गई है। वैसे उलटवांसी-पद *सबद, रमैनी, कुंडलियां, सवैया, अरिल्ल, साखी, सबदी* आदि सभी प्रकार के छंदों में लिखे हुए मिलते हैं। अर्थ-विस्तार अथवा अर्थ की व्यंजना की दृष्टि से विचार करें तो उलटवांसी शैली के लिए विशेष छंद-प्रयोग का कोई महत्व नहीं है, फिर भी संख्या अथवा प्रभाव की दृष्टि से देखें तो पद शैली.में रची गई उलटवांसियां अधिक प्रभावोत्पादक और लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। ऐसे उलटवांसी पदों की प्रथम एक या दो पंक्तियां 'टेक' या 'रहाई' वाली होती हैं। अंतिम पंक्ति में वर्ण्य विषय की ओर कुछ संकेत या अर्थोद्घाटन के लिए कोई हल्की-सी पतवार मिल जाती है। पहली पंक्ति में प्रयुक्त संबोधन से पाठक या श्रोता का ध्यान वर्ण्यविषय की ओर उन्मुख होने लगता है और इस संबोधन के आधार पर ही वक्ता-श्रोता के बीच कथोपकथन का-सा आभास होता है। *संतों, लोगों, भाई, अवधू, पंडित, पांडे, जोगी, गुरुज्ञानी, 'विरला* आदि संबोधन शब्दों से श्रोताओं, धर्म की संकीर्णता में फंसे रूढ़िवादी लोगों, अनुगामी साधकों, प्रतिद्वंद्वी, पंथावलंबियों, भेड़चाल की तरह भव-जाल में पड़े संसारियों की सामाजिकता, मानसिकता की ओर भी संकेत-व्यंजना होती है। साथ ही वक्ता द्वारा अपनी वैचारिक अथवा साधनात्मक स्थिति के प्रति आत्मविश्वास भी मुखर रहता है। ऐसे पदों में प्रयुक्त क्रिया पद भी अपना विशेष महत्व रखते हैं। अंतिम पंक्ति में प्रायः *विचारै, बूझै, बुझ-बुझ, बतावै, अरथावे* आदि क्रियापदों के प्रयोग में, अर्थोद्घाटन के लिए वक्ता के स्वर में चुनौती का पुट होता है। यह चुनौती कबीर के प्रयोगों में सर्वाधिक देखने को मिलता है। उलटवांसी-पदों की बीच वाले पंक्तियों में भी प्रायः विशेष क्रम रहता है। उनमें या तो प्रथम पंक्ति की निगूढ़ता की व्याप्ति रहती है, अथवा निहित आशय का विस्तार रहता है। इनमें विरक्ति भावना, सिद्धि संबंधी, भावात्मक-विचारात्मक अनुभवों, लोकाचार व्याप्त विसंगति, संपूर्ण जीवन-यात्रा के एकाकीपन संबंधी स्थितियों का कथन रहता है। कुछ अद्भुत-अतिशयता प्रधान रूपकबंधों में, रूपकतत्व के माध्यम से, लौकिक

उपमानों के द्वारा अलौकिक अनुभवों की अथवा दिव्य जीवन की अतिशयता प्रधान झांकी विसंगति अथवा विरोधाभास के झूले में झूलती दिखाई देती है।

कुछ उलटवांसी पदों को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मंच या व्यास गद्दी पर बैठा हुआ प्रयोक्ता संत-रूढ़-परंपरा की व्यास गद्दी को हिलाना अथवा उखाड़ देना चाहता है; पर स्वयं उसकी स्थिति निर्भयतापूर्वक तटस्थ फक्कड़ सांसारिक की-सी प्रतीत होती है। ऐसा कहते हुए उसकी श्रेष्ठता व्यंजित होती है। साथ ही शैली के अटपटेपन से वह श्रोताओं को आश्चर्यचकित अथवा विस्मित विमुग्ध-सा करता चलता है। वास्तव में उलटवांसी-पदों का शब्द-वैचित्र्य विस्मय का कारण होता है। उसकी अभिधा में कुतूहल की प्रतीती होती है। विस्मय में चित्त-विस्फार प्रधान रहता है, जबकि कुतूहल में अपूर्ववस्तु का दर्शन। उलटवांसी पदों के शब्द-वैचित्र्य में असंभव प्रमाणों पर आश्रित विसंगतियां अथवा अतिक्रांति उक्तियां अभिधा प्रश्रय प्राप्त कर पुष्ट बनी रहती हैं।

उलटवांसी-पद-रचना में एक विशेषता उसकी गेयता की भी मानी जा सकती है। और इसलिए भी शब्द या पद के कलेवर में रचित उलटवांसी अधिक मार्मिक एवं प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है। कुछ पदों में तो उलटवांसी तत्व का आद्यांत निर्वाह हुआ मिलता है। शेष पंक्तियां उपदेश की प्रधानता अथवा आचरण की शुद्धता पर बल देती हुई प्रतीत होती हैं। जिनमें उलटवांसी-तत्व का आद्यांत निर्वाह होता है, उन्हें 'पूर्णपद उलटवांसी' कह सकते हैं और दूसरी प्रकार के पदों को 'अंश पद उलटवांसी' शीर्षक से अभिहित किया जा सकता है। इस प्रकार प्रयोक्ता संत कवियों की वाणी को, विशेषतः कबीर की वाणी को आधार बनाकर इस विवेचन की उपसंहति इस प्रकार की जा सकती है कि उलटवांसी पदरचना में कुछ अनिवार्य तत्व होते हैं और कुछ सामान्य विशेषताएं अथवा प्रायोगिक प्रवृत्तियां। ये अनिवार्य तत्व तीन माने जा सकते हैं— (1) विरोधाभासी असंबद्ध पद-योजना, (2) प्रतीकप्रधान शब्द-वैचित्र्य और (3) साधानात्मक अथवा वैचारिक अनुभूति। ये तत्व उलटवांसी शैली के विच्छेदक तत्व कहे जा सकते हैं, जो इस शैली को अन्य शैलियों से पृथक करके स्वतंत्र

अस्तित्व प्रदान करते हैं। इन्हीं तत्वों के आधार पर कूट, दृष्टिकूट, पहेली, मुकरी, बुझौवल आदि कूटवर्ग की अन्य शैलियों से अलग उलटवांसी शैली स्वतंत्र अस्तित्व वाली सिद्ध होती है। पर, इन अनिवार्य तत्वों के साथ ही उलटवांसी पद-रचना की कुछ सामान्य विशेषताएं भी हैं। जैसे — 1. विचित्र प्रकार की अभिधा का होना; 2. संबोधन का होना; 3. चुनौती जैसे स्वर की प्रतीती— बूझै, विचारै, अरथावै आदि विशिष्ट क्रियापदों का प्रयोग; 5. पारिभाषिक एवं सांकेतिक प्रतीक-शब्दावली की योजना; 6. प्रयोक्ता की आत्मविश्वास से भरी ध्वनि; 7. विस्मय दृष्टि; 8. प्रतिपक्ष की परिकल्पना; असंभव प्रमाणों के माध्यम से रूढ़ि अथवा लोकमार्ग का व्यतिक्रम; 10. गेयता की प्रधानता; 11. रूपक तत्व की योजना; 12. व्यंग्य एवं वक्रता की विशेष चमक आदि।

क्रांतिदर्शी कवि कबीर साधना को, विचारानुभव को, अनुभूति की अनिर्वचनीयता को योगपरक रूपकों अथवा उलटवांसी पदों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। उसके उलटवांसी पदों में विरोधगर्भित प्रतीकों द्वारा, विधि-विरोध के रूप में सामाजिक विसंगति भी उभर कर आई है। वैदिक ऋषि ने जल के बीच में प्यास बनी रहने की स्थिति को एक विशेष विरोधाभास के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। विचारक कबीर की यह उलटवांसी पंक्ति— *जल बिच मीन प्यासी। मोहि सुनि सुनि आवै हांसी।* प्रायः उद्धृत होती रहती है। ज्ञान-विरह में विचारक; शायद यह अनुभव करता रहता है कि भौतिक सुख-भोग इंद्रियों की बहिर्मुखता होते ही विवेक का सहारा लेने के कारण वह विषयों में विचारते हुए भी, तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता।

उलटवांसी शैली को, वास्तव में कबीर जैसा समर्थ प्रयोक्ता व्यक्तित्व मिला है, वैसा समग्र संत-साहित्य में दूसरा नहीं है। विषय प्रतिपादन, प्रतीक-योजना, रूपकतत्व, चमत्कार सृष्टि आदि में कबीर का कुछ ऐसा व्यक्तित्व है, जो परवर्ती संतों के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करता है। कबीर ने उलटवांसी शैली-प्रयोग में परंपरा से ग्रहण तो किया है, परंतु उसका ताना-बाना अपने ही ढंग से बुना है। कबीर की उलटवांसियां सर्वसाधारण को

अवाक करती हैं, तो जिज्ञासु को अर्थ की गहराई में जाने के लिए प्रेरित करती हैं। कबीर के उलटवांसी-पदों में प्रयुक्त संबोधन श्रोता के मानसिक स्तर एवं प्रतिपक्ष की 'समक्षता' को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। जब वे संतों को संबोधित करते हैं तो अपना विचार-पक्ष समझाते अथवा परामर्श देते हुए प्रतीत होते हैं और जब वे अवधू, पांडे, पंडित को संबोधित करते हैं तो प्रतिपक्ष की मान्यता का खंडन-सा करते प्रतीत होते हैं। 'लोगों', 'भाई' आदि संबोधन उनके द्वारा जनजीवन के प्रति सहृयता की सूचना देते हैं। यद्यपि, उनका उद्देश्य किसी को गर्वोक्ति के माध्यम से खुली चुनौती देना नहीं रहता था, फिर भी , 'बुझे', 'अर्थात', 'बतावै', जैसे क्रियापदों में अनुभव की प्रखरता एवं आत्मविश्वास की व्यंजना चुनौती-जैसी लगती है। बहुश्रुत होने के कारण कबीर के उलटवांसी पदों में भी, अन्य बातों के साथ–साथ दार्शनिक-सिद्धांत-सापेक्षता संकेतित होती है, सिद्ध नहीं होती। उनके उलटवांसी पदों में विचार और भाव का अपूर्व सामंजस्य देखने को मिलता है।

कबीर की रचनाओं के लिए *कबीर ग्रंथावली* (संपादक : श्याम सुंदर दास) , *कबीर-बीजक*, (संपादक : विचारदास शास्त्री), अभी भी प्रामाणिक स्रोत मानी जाती हैं। इनकी पड़ताल करने से पता चलता है कि *ग्रंथावली* के साखी भाग में लगभग पचास साखियां तथा पदावली भाग में लगभग नब्बे पद उलटवांसी-शैली के तत्वों पर खरे उतरते हैं। ग्रंथावली के परिशिष्ट भाग में भी उलटवांसी-पद हैं, परंतु, अधिकांश में पाठ-भेद के अतिरिक्त पुनरावृत्ति मात्र है। 'बीजक' में भी बहुत-से पद 'ग्रंथावली' के पदों के समान हैं, परंतु पाठ-भेद अथवा लिपि-भ्रम के कारण *बीजक* के उलटवांसी-पदों का अर्थ *ग्रंथावली* के पदों के अर्थ से अधिक शास्त्रीय प्रतीत होता है। *बीजक* में उलटवांसी-तत्वों के आधार पर लगभग छह रमैनी, पैंतीस के लगभग सबद और बीस के लगभग साखियां हैं। इनके अतिरिक्त कहरा, बसंत, बेलि आदि में भी उलटवासी मूलक कथनों का प्रयोग है। कुल मिलाकर कबीर के उलटवांसी-पदों की संख्या संत-साहित्य में सर्वाधिक है। सभी उलटवांसी-पदों को वैचारिक दृष्टि से और जिज्ञासापूर्वक पढ़ने से एक बात सर्वत्र व्यंजित है, वह है जीवन को, 'जीवन-रहनि' को सरल और सहज बनाकर अपरिग्रहपूर्वक

जीवन के उच्चादर्शों को प्राप्त करना। ज्ञान-विरह की दशा को व्यंजित करने वाला कबीर का एक उलटवांसी-पद, व्याख्या सहित, यहां प्रस्तुत है, जिससे उनकी बोध-वृत्ति और मौलिकता[1] का अनुमान लगाया जा सकता है :

*कैसे नगरि करौं कुटवारी। चंचल पुरिष बिचषन नारी।।* टेक।।
*बैल बियाइ गाइ भई बांझ। बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।।*
*मकड़ी घरि माषी छछिहारी। मास पसारि चील्ह रखबारी।।*
*मूसा खेवट नाव बिलइया। मींडक सोवै सांप पहरइया।।*
*नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै। कहै कबीर कोई बिरला बूझै।।* [2]

यदि इस पद का अर्थ अभिधा में निकाला जाए तो बहुत ही विचित्र एवं बेसिर-पैर का प्रतीत होगा। लेकिन, जिज्ञासापूर्वक जब पद की पहली और अंतिम पंक्ति को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाए तो पद में अर्थ संबंधी कुछ सूचनाएं मिल जाती हैं। साधना-पथ पर गुरुवचनों पर विश्वास परमावश्यक है। इसी से जिज्ञासु को विरोधगर्भित प्रतीक-योजना बेसिर-पैर की अथवा बकवास नहीं लगेगी। इस पद में एक ऐसे 'नगर' की रक्षा के संबंध में कहा गया है , जिसका निवासी 'पुरुष' चंचल वृत्ति वाला है और नारी विलक्षण स्वभाव की है। उस नगर के कार्य-कलाप भी बड़े विलक्षण ही हो रहे है। जब 'बिरला बूझै' वाला प्रयोग सामने आता है तो मनुष्य शरीर की ओर ध्यान जाता है। मन और कामना ही मनुष्य को 'संसार' में प्रवृत्त किए रहते हैं। अतः चंचल स्वभाव वाला पुरुष रूप 'मन' (*गीता*, 6/34) और विलक्षण स्वभाव वाली नारी 'कामना' शरीर-रूप नगर का कार्य-व्यापार संभाले हुए प्रतीत होते हैं। पर, प्रश्न यह है कि ऐसे 'नगर' में विसंगति, विषमता क्यों ? संत-बोध ही इसका

---

1. *बलद बिआअल गविआ बाझें। बिटा दुहिए एतिना सांझें।।*
*निति निति षिआला सिंहे सम जूअअ।।*
*ढेण्ढणपाएर गीत बिरलै बूझअ।।* –चर्यागीतिकोष, पृष्ठ 108

2. *कबीर ग्रंथावली*, पद–80; *कबीर बीजक*, शब्द–95 (*कबीर बीजक* में यह पद कुछ पाठ-भेद से मिलता है। इसलिए अर्थ मे भी कुछ वैचारिक भेद देखने को मिलता है। '*करइ*' क्रियापद से ही अर्थ की सारी सुसंबद्धता भिन्न क्रम से प्रस्तुत होने लगती है। देखिए– *को अस करई नगर कोटवलिया। मासु फैलाइ गीध रखवरिया।*)

उत्तर देता है कि मायिक सृष्टि, भ्रम अथवा अविवेकपूर्ण 'गोरखधंधे' में फंसाव के कारण। विवेक या विचार का सहारा लेने पर ही इस विषमता से छुटकारा पाया जा सकता है। और, जब साधनात्मक विचार या विवेक जागृत होता है, तो लगता है कि जन्म-जन्मांतरों के, नाना प्रकार के संस्कारों से लदा हुआ प्रवृत्तिमार्गी सदोष मन, इस नगर-रूप शरीर में संकल्प-विकल्प के माध्यम से नित नई सृष्टि करता रहता है। मन के बहिर्मुखी होने के कारण ही गाय-रूप सात्विकी बुद्धि को निष्क्रय रूप में बन्ध्या बना रहना पड़ता है; क्योंकि मन की चंचलता और प्रबलता के कारण सात्विकी बुद्धि का कोई निर्णय कार्यशील नहीं हो पाता। यही बैल का 'बियाना' और गाय का बांझ होना है।

*यथा राजा तथा प्रजा* की उक्ति के अनुसार अन्य इंद्रियां भी राजा-रूप मन के साथ ही बहिर्मुखी बनी रहती हैं। मन के आश्रयत्व के कारण इंद्रिय विशेष 'वत्स' या बछड़े का रूप धारण किए रहती है अर्थात इंद्रियां मन की अनुकूलता से मनुष्य की सीमित चेतना को अनेक प्रकार की कामनाओं से तृप्ति का आभास कराती हैं। यही बछड़ा रूप इंद्रियों का तीनों प्रहर अर्थात कामानुरूप हर समय दुहा जाना है।

अब प्रश्न उठता है कि 'मक्खी', 'मकड़ी' के घर किस प्रकार छिछोलियां किया करती हैं ? वास्तव में मकड़ी की शक्ति मक्खी से अधिक होती है। अतः मक्खी रूप वासना या प्रवृत्ति, जो विषयों से चिपकी रहना चाहती है, मकड़ी रूप माया के घर में अर्थात मायिक संसार में इंद्रिय सुख-भोग के रूप में ठिठोली करती रहती है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल में मक्खी आदि जंतुओं को फंसा लेती है, वैसे ही मनुष्य की वासनामयी वृत्ति मायाकृत मोहक जाल में आकर्षित होकर फंसती रहती है। ऐसी परिस्थिति में ही विषयाकृष्ट सदोष 'कामना' अपने चारों ओर उपलब्ध मांस रूप विषयों की रक्षा में तत्पर बनी रहती है।

मन के इस प्रकार के कार्य-व्यापार में घात लगाने वाली दुष्ट मति रूप 'बिल्ली' आधार के रूप में 'नौका' का कार्य करती है और तब वह संवाहक अथवा केवट बने हुए मूषक रूप मन के लिए संतरण का आधार बन जाती

है। तात्पर्य यह है कि दुष्ट मति को आधार बनाकर बहिर्मुखी मन अपने संकल्प-विकल्प के कार्यों में प्रवृत्त बना रहता है। इस विषम परिस्थिति में भ्रमावस्था पूर्ण मंडूक रूप मन, अपने निकट सर्प रूप संशय को (भ्रम या संदेह की अवस्था में मन शंकालु बना रहता है) फन फैलाए हुए देखकर भी, उद्बुद्ध संशय के रहते हुए भी, सुख की नींद सोने का दंभ करता रहता है। अर्थात, वह यह भूल जाता है कि अवसर पाते ही सर्प रूप संशय भ्रमित मन रूप मेंढक को निगल जाएगा। इस प्रकार चंचल पुरुष एक मन और विचित्र स्वभाव वाली 'मनसा' या कामना के बहिर्मुखी प्रभाव के कारण नगर रूप मानव-शरीर का रक्षा-कार्य अव्यवस्थित-सा बना रहता है। लेकिन, इस स्थिति का अनुभव कोई-कोई ही कर पाता है। इस विषम परिस्थिति में चतुर, किंतु भीरू स्वभाव वाला शृगाल रूप मननशील जीवात्मा, आत्म-शक्ति की प्रेरणा से, विषम एवं अव्यवस्थित परिस्थिति को संतुलन अथवा 'शम' अवस्था में लाने का, चंचलता को संतुलन में बदलने का प्रयत्न करता रहता है अर्थात अभ्यास की निरंतरता से इस जन्म में अथवा जन्म-जन्मांतरों में 'सिंह' रूप काल से अथवा बहिर्मुखी प्रबल मन से संघर्ष करता है। तात्पर्य यह है कि विचारक, साधक को शरीर की वृत्तियों में संतुलन अथवा सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए अथवा परमपद प्राप्त करने के लिए विषय-मन में, स्वेच्छाचारिता से विषयों का शिकार करने वाले सिंह स्वभाव वाले क्रोधी, हठी, चंचल और प्रबल मन से निरंतर संघर्ष करते रहना पड़ता है। कबीर का कहना है कि विषयेन्द्रियों में मृगयाशील मन की इस विषम परिस्थिति को विरला विचारक ही समझा पाता है।

अतः कहा जा सकता है कि उलटवांसी शैली में रचे गए कबीर के पदों में प्रयुक्त प्रतीक अन्य क्षेत्रों के प्रयुक्त प्रतीकों से कहीं अधिक सूक्ष्म और सांकेतिक हैं। इसका मुख्य कारण उनकी विरोधाभास प्रस्तुति है।

# हिंदू-मुस्लिम एकता के सेतुबंध

***डॉ. इकबाल अहमद***

कहा जाता है कि काल की कठोर आवश्यकताएं ही महात्माओं को जन्म देती हैं। कबीर का जन्म भी ऐसी ही परिस्थिति का द्योतक है। उस समय समाज में ऐसी अशांति फैली हुई थी कि समाज विघटन के द्वार पर आ खड़ा हुआ था। मनुष्य मनुष्यता से दूर होता जा रहा था। साधु वेषधारी स्वार्थी मनमाने रूप से संत, साधु, पीर और पैगंबर बनकर समाज को पतन की ओर ले जा रहे थे। धन, पद और जाति ही सब कुछ थी। हिंदू और मुसलमान अपने को अलग-अलग समझते थे। उनके भीतर धर्मांधता कूट-कूट कर भरी हुई थी। हिंदुओं में ऊंच-नीच, जाति-पांति की भावना चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। अंधविश्वास और कर्मकांड ही मूलधर्म की शक्ल लिए हुए थे। मुसलमानों में भी ऊंच-नीच की भावना आ गई थी। इसलिए छोटी जातियों के अंतिम आश्रय भक्ति और तसव्वुफ की प्रेम नगरियां बन गईं और दोनों ईश्वर परायण और मानव-प्रेमी आंदोलनों का बहुत ही सुंदर समन्वय कबीरदास और उनकी वाणी के द्वारा समाज के सामने प्रकट हुआ।

वर्ग द्वेष, जाति द्वेष, रंग भेद आदि के बगैर न तो मुल्ला, काजी, पंडित, पुरोहित आदि समाज में उच्च स्थान पा सकते हैं और न शासक शासन ही कर सकता है। अतः इन लोगों ने ऐसे कूटनीतिक मार्ग को अपनाया जिससे समाज में विघटन हो और निजी लाभ उठाए जा सकें। परंतु सूफियों और संतों ने इंसानी बिरादरी और प्रेम का लक्ष्य सामने रखा। उनके सामने मनुष्य

के उच्च स्थान का मापदंड भक्ति, प्रेम, इश्क-ए-हकीकी (पारलौकिक प्रेम) और इश्क-ए-मजाजी (लौकिक प्रेम) था। इन महापुरुषों ने माया त्याग को अपनी शिक्षा का आधार बनाया था क्योंकि ये जानते थे कि माया प्रेम-मार्ग में बाधक हो सकती है।

कबीर से पूर्व और पश्चात भी अनेक संतों और महात्माओं ने जन्म लिया जिनका मुख्य लक्ष्य मनुष्य को ठीक मार्ग दिखाना था। इस संदर्भ में हम उनसे पूर्व के महात्मा नामदेव और रामानंद का उल्लेख कर सकते हैं। इन लोगों ने भी समाज को सुधारने और विचलित मनुष्यों के ठीक मार्गदर्शन का भरसक प्रयत्न किया। इन लोगों की रचनाएं भी समाज के सामने आईं। कबीर ने नामदेव का उल्लेख शुक, शंकर आदि ज्ञानियों के साथ किया है।

इसी प्रकार कबीर के बाद भी अनेक संतों ने समाज को विघटन से बचाने के लिए अनेक प्रयत्न किए। समाज को सुधारने के लिए इन लोगों ने अलग-अलग ढंग के मार्ग अपनाए और अपनी-अपनी रचनाएं समाज के सामने प्रस्तुत कीं। इन लोगों का मार्ग जो भी रहा हो परंतु सबका ध्येय एक ही था और वह था समाज को विघटन से बचाने और स्वस्थ बनाने का ध्येय। यहां हम कुछ संत-महात्माओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं। रामानंद के बारह शिष्यों में से रैदास (रविदास) का नाम आदर से लिया जाता है। ये जाति के अछूत (चमार) थे। ये निर्गुण संप्रदाय के संतों की श्रेणी में रखे जाते हैं। इन्होंने समाज को एकसूत्र में बांधने के लिए अनेक यत्न किए। आज हमें इनकी फुटकर वाणी मिलती है। परंतु उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये निर्गुण तथा सबको समान मानने के हामी थे। धर्मदास ने कबीर के मार्ग को अपनाया। इनकी रचनाएं कबीर की वाणी से बहुत मिलती-जुलती हैं। गुरु नानक सिख धर्म के संस्थापक थे। ये हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्षधर और आत्मज्ञानी थे। इन्होंने अंधविश्वास और कर्मकांडों का कड़ा विरोध किया। दादू दयाल ने प्रेम-भाव का बहुत ही सरस निरूपण किया है। उनकी प्रकाशित वाणियों में *अरिल्ल अंगबंधु, कायाबोली* आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। ये निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और इन्होंने समाज को सुधारने के लिए अपने

आदर्श को समाज के सामने रखा। सुंदरदास दादू दयाल के शिष्य थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त सामाजिक जीवन पर सम्यक दृष्टि डाली। मलूकदास ने भी कबीर, धर्मदास, गुरु नानक और दादू दयाल की भांति हिंदुओं और मुसलमानों को एकता का उपदेश दिया और समाज में फैली हुई दुर्गंध को एकता को बल पर निकालने का प्रयत्न किया। वे एक स्वस्थ समाज की स्थापना करना चाहते थे। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं— *रत्न खान* और *ज्ञान बोध*। अक्षर अनन्य कायस्थ जाति के थे। इनके शिष्य प्रसिद्ध छत्रसाल थे। यह भी स्वस्थ समाज के समर्थक कहे जाते हैं। इसी प्रकार समाज को विघटन से रोकने और समाज को स्वस्थ बनाने के प्रयत्न अनेक संतों और महात्माओं ने किए।

वैष्णव संप्रदाय और संत संप्रदाय में गहरा संबंध है। वैष्णव मत के संस्थापक रामानंदजी थे और कहा जाता है कि इन्हीं के शिष्यों में से कबीर दास भी थे। परंतु कबीर ने जिस भक्ति मार्ग को अपनाया वह भिन्न है। कबीर पर इस्लाम के सूफी मत और अद्वैतवाद का गहरा प्रभाव मिलता है। उन्होंने ऐसी निर्गुण धारा को अपनाया जो हिंदू और मुसलमान दोनों को मान्य हो। समाज में फैले हुए अवांछनीय तत्वों जैसे अंधविश्वास, कर्मकांड आदि को नष्ट करने के लिए व्यंग्य और मीठी चुटकियों का सहारा लेकर कबीर समाज के सामने उपस्थित हुए।

समाज सुधारकों को हम तीन श्रेणियों में रख सकते हैं—(1) दोष दर्शन कराकर अन्य समाज सेवियों को उन को दूर करने के लिए प्रोत्साहित करने वाले समाज सुधारक, (2) प्रचलित दोष का खंडन करके समाज को नया मार्ग दिखला सकने की क्षमता न रखने के कारण शिथिल हो जाने वाले समाज सुधारक और (3) दोष दर्शन के पश्चात खंडन मार्ग को अपनाकर समाज को समयोचित एवं कल्याणकारी मार्ग की ओर ले जाने वाले समाज सुधारक।

कबीर तीसरे प्रकार के समाज सुधारक हैं जिन्होंने सत्य दर्शन कराने के साथ-साथ खंडन की प्रवृत्ति को अपनाया। साथ ही, वह स्वस्थ मार्ग का निर्देशन करते हैं और उस पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं।

धर्म और समाज का गहरा संबंध है। अतः प्रत्येक धर्म-सुधारक समाज-सुधारक भी हुआ करता है। संत मत *बहुजन हिताय बहु जन सुखाय* है। संत कबीर की वाणी में बहुजन हिताय की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। कबीरदास व्यावहारिक बातों पर अधिक बल देते हैं, वह आदर्शों पर बल कम देते हैं। कबीर कहते हैं कि हमारा तुम्हारा मन एक कैसे होगा जबकि मै आंखों देखी बात पर बल देता हूं और तुम कागज पर लिखी बातों पर अधिक बल देते हो। मैं जो भी कहता हूं वह वाद-विवाद दूर करने के लिए और तुम जो बातें करते हो वह पूरा वाद-विवाद होता है। जब मैं तुम्हें जागने के लिए कहता हूं कि तो तुम सो जाते हो और जब मैं कहता हूं कि इस सांसारिक मायाजाल से मोह न करो तो तुम उसी से मोह करते हो। मैं युग-युग से समझाते हुए हार गया, परंतु इस संसार में मेरी कोई नहीं सुनता :

*मेरा तेरा मनुआं कैसे इक होई रे।*
*मैं कहता हौं आंखिन देखी, तू कागद की लेखी।।*
*मैं कहता सुरझावन हारीं, तू राख्यो उरझाई रे।*
*मैं कहता तू जागत रहियो, तू कहता है सोई रे।*
*मैं कहता निर्मोही रहियो, तू कहता है मोही रे।*
*जुगन-जुगन समुझावत हारे, कही मानत न कोई रे।।*

इस पद से प्रतीत होता है कि कबीर का संतमत बहुजन हिताय है और वह किसी वर्ग या जाति विशेष की प्रशंसा या हित के लिए नहीं है बल्कि कबीर समाज के प्रत्येक प्राणी को उपदेश देते हैं तथा सभी को समान समझते हैं।

इसी प्रकार के उद्‌गार कबीर की वाणी में अनेक स्थान पर मिलते हैं और वह उसके प्रतिपादन के लिए अधिक प्रयत्नशील भी दिखाई देते हैं। ऐसा ही उद्‌गार यहां भी है :

***हौं तो सबही की कहौं, मौकों कोउ न जान।***
***तबों भला अब भी भला, जुग-जुग होउं न आन।।***

*कलि खोटा, जग अंधरा, शब्द नर मौन कोय।*
*जाहि कहौं हित अपुना, सो सठि बैरी होय।।*

इसमें कबीरदास कहते हैं कि मैं तो सबकी कहता हूं। लेकिन मुझे कोई नहीं जानता। मैं तब भी भला था और अब भी भला हूं और कई युग बीत जाने के बाद भी मुझ में कोई परिवर्ततन नहीं होगा। कलियुग खोटा है और दुनिया अंधी है, मेरे शब्द कोई नहीं जानता। जिससे उसके हित की कहता हूं वही मेरा बैरी हो जाता है।

कबीर का कहना था कि ईश्वर एक है, वह सर्वशक्तिमान है जो कण-कण अर्थात जड़ और चेतन सब में व्याप्त है। उसको चाहे जिस नाम से पुकारें परंतु मूलतः वह एक ही है — चाहे राम कहो चाहे अल्लाह। इसी आशय को वह इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

*दुई जगदीस कहां ते आया, कहु कबने भरमाया।*
*अल्लाह-राम-करीमा कैसी, हजरत नाम धराया।।*
*गहना एक कनकते गढ़ना, इनि मंह भाव न दूजा।*
*कहन-सुनन को दूर करि पापिन, इक निमाज एक पूजा।।*

उन्होंने यहां स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि सभी एक ही ईश्वर के बनाए हुए हैं, वह चाहे हिंदू हों या मुसलमान। उनका आपस में लड़ना मूर्खतापूर्ण है। पांच तत्वों से ही मुसलमान और हिंदू दोनों के शरीर की रचना होती है :

*हिंदू कहूं तो हों नहीं, मुसलमान भी नाहिं।*
*पांच तत्व का पूतला, गैवा सैले मांहि।।*

कबीर ने अहिंसा पर बल देते हुए दोनों को फटकारा है। वह कहते हैं कि इन दोनों के अंदर दयाभाव नहीं है। इनके घरों से दया-मुहब्बत दोनों निकल गई है। एक जानवर को जिबह करता है और दूसरा झटका करता है लेकिन दोनों के घरों में आग लगी है। वे हम पर हंसते हैं और स्वयं 'सियाने' कहलाते हैं। ऐ साधु तुम्हीं बताओ, हम दोनों में कौन दीवाना है ? उन्हीं की वाणी में :

*हिन्दू की दया मेहर खुररन की दोनों घर से भागी।*
*वह करे जिबह वां झटका, मौरे आग दोऊ घर लागी।।*
*या विधि हंसत चलता है, हमको आप कहावे स्याना।*
*कहै कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना।।*

कबीरदास ने जाति-पांति के भेदभाव को व्यर्थ मानते हुए समाज को समता का संदेश दिया :

*संतन जात न पूछो निरगुनियां।*
*साध ब्राह्मन साध छतरी, साधे जाती बनिया।।*
*साधन मां छत्तीस कौम है, टेढ़ी तौर पुछनियां।*
*साधै नाऊ साधै धोबी, साधि जाति है बरिया।।*
*साधन मां रैदास संत है, सुपच ऋषि सो भंगिया।*
*हिंदू-तुर्क हुई दीन बने हैं, कुछ नहीं पहिचनियां।।*

समाज में बाह्य आडंबर की धूम और वास्तविक स्थिति को देखकर ही वे दुखी हुए। कबीरदास निडर थे, वह समाज के आडंबर को देखकर चुप बैठने वाले व्यक्ति नहीं थे। वह निःस्वार्थ थे अतः उन्होंने व्यंग्यपूर्ण शैली में जो चुटकी ली, वह अत्यंत ही प्रभावकारी साबित हुई। उनके अभ्यंतर के उद्‌गार हैं :

*मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपरा।*
*आसन मारि मंदिर मैं बैठे, नाम छाड़ि पूजन लागे पथरा।।*
*कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौलै, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा।।*
*जंगल जाय जोगी धुनियां रमौले, काम जराय जोगी बन गैलै हिजरा।।*
*मथवा मुड़ाय जोगी कपरा रंगौलै, गीता बांच के होई गैले लवरा।*
*कहत कबीर सुनो भाई साधौ, जम दरवज्जौ बांधल जैवे पकरा।।*

इस पद्य से यह संकेत मिलता है कि कबीर समाज को त्याग कर और उससे कटकर रहने के खिलाफ थे। वह समाज में रह कर ही समाज-सेवा को मानने वाले थे। वह निष्क्रिय नहीं बनना चाहते थे ; न ही वह स्वयं

निष्क्रिय थे।

दोष दर्शन और खंडन की वृत्ति को अपनाकर समाज सुधार के लिए जो उक्तियां उन्होंने कहीं, उनसे समाज में समानता की भावना का प्रचार हुआ। मुसलमानों और हिंदुओं में विरोध की कमी होने लगी।

कबीर समाज के नासूर को चीर कर उनकी पीव निकालने के बाद उस पर पट्टी लगाना भी अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने समाज का दोषदर्शन कराने के बाद उसे अपने निर्गुण भगवान की याद दिलाई और सांसारिक मायाजाल से बचने की प्रेरणा देकर कहकर उस घाव पर पट्टी लगा दी।

उन्होंने उपदेश दिया कि हे मनुष्य! तू अब अपनी बुद्धि का प्रयोग कर। जो परिपाटी चली आई है, यह पुरानी और गलत है। अब उसको सुधारने की आवश्यकता है। इसी विचार को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

*सोच समुझ अभिमानी चादर भई है पुरानी।*
*टुकड़े टुकड़े जोड़ि जात-सों, सीके अंग लिपटानी।।*
*कर डारी मैली पापन सों, लोभ मोह में सारी।*
*ना यदि लाग्यौ ज्ञान कै साबुन, ना धोई मल पानी।।*
*सारी उमरि ओढ़ते बीती, भली बरी नहिं जानी।।*
*संका मान जान जिय अपने, यह है चीज बिरानी।।*
*कहत कबीर धरि राखु जतन से, फेर हाथ नहिं आनी।।*

कबीर ने समाज के सभी मनुष्यों को कहा– तुम्हारे लिए यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि जिस मनुष्य के स्वभाव में शील और संतोष है, जो सबको एक दृष्टि से देखता है और रहन-सहन में पूरा है उसके परम दर्शन से सारे भय भाग जाते हैं और सब क्लेश दूर हो जाते हैं। हर समय उसकी चर्चा इस तरह रहती है जैसे मन में चंदन की सुगंध बसी हो, उसे कोई दूसरी कथा अच्छी नहीं लगती। वह चारों ओर प्रेम का रंग उड़ाता रहता है। उसका राम अखंडित और अविचल है, निडर है। उसी के चरण छुओ जो हर प्राणी को सुख और प्रेम से भर देता है :

*सील-संतोष सदा समदृष्टि, रहनि सहनि में पूरा।*
*ताके दरस, परम भय भाजै, होई क्लेस सब दूरा।।*
*निसी-वासर चरचा चित-चंदन, आन कथा न सोहावे।*
*करनी धरनी संगीत गावे, प्रेम रंग उड़ावे।।*
*राग सरूप अखंडित अविचल, निर्भय बेपरवाई।*
*कहै कबीर ताहि पग परसो, घट घट सब सुखदाई।।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने समाज के दोषों का दर्शन करा, उनके लिए जो उत्तरदायी थे उनको फटकार लगा कर समाज को जिस स्वस्थ कल्याणकारी मार्ग की ओर समाज को प्रेरित किया, वह बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था।

आज भी समाज को कबीर जैसी विभूतियों के नेतृत्व की आवश्यकता है। उस ज्योति की परम आवश्यकता है जो इस सूफी-संत दिल में उत्पन्न हुई थी। आज संसार स्वतंत्र हो रहा है। विज्ञान की असाधारण प्रगति ने मनुष्य का प्रभुत्व बढ़ा दिया है। मनुष्य आज चांद पर पहुंच चुका है और ग्रहों पर पहुंचने का प्रयत्न कर रहा है। फिर भी वह तुच्छ है, संकटग्रस्त है, दुखी है। वह रंगों में बंटा हुआ है, जातियों और वर्णों में विभाजित है। उसके बीच धर्मों की दीवारें खड़ी हैं। सांप्रदायिक द्वेष है, वर्ग संघर्ष की तलवारें खिंची हुई हैं। दिलों में अंधेरा है। छोटे-छोटे स्वार्थ और दंभ हैं जो मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना रहे हैं। आज हम स्वतंत्र हैं इसलिए हमें नए विश्वास की, नई आस्था और नए प्रेम की आवश्यकता है।

कबीर ने हिंदू और मुसलमानों को जिस प्रेमपाश में बांधने का प्रयास किया वह आज भी जननी जन्मभूमि के लिए अत्यंत आवश्यक है। कबीर की वाणी के द्वारा ही भारत जैसे महान देश की सभी जातियां, सभी संप्रदाय और सभी धर्मावलंबी एक झंडे के नीचे इकट्ठे हो सकते हैं। वास्तव में मानवता की मूर्ति कबीर हिंदू-मुस्लिम एकता के सेतुबंध थे।

# गुजरात में प्राप्त कबीर-वाणी का पाठ

**डॉ. ओमप्रकाश सक्सेना**

कबीर को सत्संग प्रिय था, उनका संपूर्ण जीवन सत्संग में ही व्यतीत हुआ था। अपनी इसी सत्संग-प्रियता के कारण उन्होंने समस्त भारत का भ्रमण किया था। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि कबीर ने अपने पुत्र के साथ गुजरात की यात्रा की थी। किंतु कबीर पंथ का प्रसार कबीर की मृत्यु के पश्चात उनके शिष्यों द्वारा हुआ। सर्वप्रथम इन शिष्यों ने सूरत को अपना केंद्र बनाया और वहीं अपने संप्रदाय की स्थापना की। लगभग 17वीं शताब्दी में कबीर पंथ की स्थापना गुजरात में हुई।

कबीर पंथ की स्थापना के साथ ही कबीर वाणी का भी प्रचार-प्रसार गुजरात में व्यापक रूप से हुआ। संतों, भक्तों और साधु प्रवृत्ति के लोगों ने कबीर वाणी को हस्तलिखित ग्रंथ के रूप में सुरक्षित रखा। आज जो हस्तलिखित ग्रंथ गुजराती में उपलब्ध हैं वे उन्हीं की परंपरा के हैं।

प्रस्तुत निबंध में गुजरात में प्राप्त, गुजराती लिपि में लिखित कुछ हस्तलिखित प्रतियों से संकलित कबीर-वाणी का अध्ययन पाठ-विज्ञान की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। लेख के पूर्वार्द्ध में विभिन्न पाठ-विकृतियों का उल्लेख किया गया है, तथा उत्तरार्द्ध में कबीर वाणी के हिंदी पाठ की तुलना में गुजराती पाठ की श्रेष्ठता प्रमाणित की गई है।

गुजरात में प्राप्त कबीर-वाणी के पाठ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उसमें कुछ ऐसी पाठ-विकृतियां मिलती हैं, जिनकी संभावनाओं पर विचार

करने से ज्ञात होता है कि इन प्रतियों का पूर्व रूप नागरी लिपि में रहा होगा। यहां इस प्रकार की कुछ विकृतियों का उल्लेख किया जा रहा है :

1. *नाहिं छोडूं बाबा राम नाम*[1] से प्रारंभ होनेवाले पद की दसवीं पंक्ति का पाठ इस रूप में मिलता है :

*हिरनाकुस माधो नब विडार*

इसमें माधो पाठ विकृत है, जो स्पष्टतः नागरी लिपिजनित भ्रम के कारण ज्ञात होता है। क. ग्रं. प्रयाग, पृ. 16, पद 26 में इसका पाठ मार्‍यो मिलता है जो निर्विवाद रूप से भ्रांतिहीन है। र और य दोनों के संयुक्त रूप को यदि असावधानी से लिखा जाए तो इसे द्य भी पढ़ा जा सकता है, यह विकृति इसी प्रकार संभव हुई ज्ञात होती है।

2. *परम गुरु सोई दया कर दीन्हा*[2] से प्रारंभ होने वाले पद की अंतिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है :

*कहे कबीर छलछल सतगुरु की धन धन सिष का लहना*

श. बे. भाग 2, पृ. 22, शब्द 12 में छलछल के स्थान पर बलबल पाठ प्राप्त होता है, जो संभवतः बलि बलि का इकारहीन वैसा ही रूप है जैसा धनि धनि का धन धन। इस पंक्ति में ये दोनों ही प्रयुक्त हुए हैं। बलबल पाठ छलछल की अपेक्षा अर्थ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। ब का छ हो जाना नागरी लिपि में ही संभव है। अतः यह दोष इसी कारण हो गया ज्ञात होता है।

3. *पानी मां मीन प्यासी*[3] से प्रारंभ होने वाले पद की चौथी पंक्ति का पाठ इस रूप में मिलता है :

*नागर होकर भस्म चढ़ावे, बीन बीन करत उदासी*

इसमें बीन बीन पाठ विकृत ज्ञात होता है। श. बे. ,भाग 1, पृ. 34 पर

---

1. ह. प्र. संख्या 1, मगनभाई देवशंकर संग्रहालय, बड़ोदरा
2. ह. प्र. संख्या 1, मगनभाई देवशंकर संग्रहालय, बड़ोदरा
3. ह. प्र. संख्या 1038, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद

इसके स्थान पर 'बनिबनि फिरत' पाठ मिलता है, जो अधिक सार्थक है। 'न' के साथ प्रयुक्त 'ई' की मात्रा 'ब' पर 'ई' की मात्रा में किस प्रकार परिवर्तित हो गई, इसका समाधान नागरी लिपि से ही संभव है। अधिकतर लिपिकार लेखन में कलात्मकता लाने के लिए, इ की मात्रा फैला कर लगाते हैं कि वह पिछले अक्षर के ऊपर तक पहुंच जाती है और ऐसा भ्रम होने लगता है कि पूर्वाक्षर पर 'ई' की ही मात्रा है। यह विकृति इसी कारण हुई ज्ञात होती है। फिरत शब्द का करत में परिवर्तित होना भी नागरी में फ तथा क के सादृश्य से संभव माना जा सकता है।

4. *ताथे मजले* [1] पद की प्रथम पंक्ति का अंतिम शब्द *नारांरगा* तथा चौथी पंक्ति का अंतिम शब्द *रमरंगा* है। ये दोनों शब्द निरर्थक तथा अस्पष्ट हैं। इनके स्थान पर क. ग्र., पृ. 59, पद सं. 101 में क्रमशः नाराइणा एवं रमणां पाठ मिलता है। 'ण' का 'रग' हो जाना नागरी लिपिजनित दोष के कारण ही संभव है। कुछ प्रतिलिपिकार लेख को आकर्षक बनाने के लिए नागरी अक्षरों की खड़ी पंक्तियों में नीचे की ओर किंचित घुमाव देते हैं। यहां 'ण' की पंक्तियों का इसी प्रकार मोड़ रहने के कारण उसे किसी गुजराती प्रतिकार ने 'रग' पढ़ लिया। इस प्रकार नाराइणां (इ का लोप) तथा रमणां का रमरंगा हो गया।

## पुनरावृत्ति संबंधी पाठ विकृति

*भगतीदान मोहि दीजिए* [2] से प्रारंभ होने वाले पद की चतुर्थ पंक्ति का पाठ इस रूप में मिलता है-- *सुपनेहु ईछु नहीं मोहे संपती तुमारी* श. क., पृ. 207, प्रभाती 11 पर संपती के स्थान पर 'गुरु आन' पाठ मिलता है, इस पद की तीसरी पंक्ति में ही संपती सुपनारी पाठ दोनों प्रतियों में आ चुका है। इससे यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त प्रति के प्रतिलिपिकार ने भूल से चौथी पंक्ति में भी संपती शब्द को दुहरा दिया है। इस प्रकार का भ्रम अस्वाभाविक नहीं

1 ह. प्र. संख्या 1000, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद

2. ह. प्र. संख्या 661, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद

है। प्रस्तुत पद का त्रुटिपूर्ण पाठ भी इसी प्रकार हुआ ज्ञात होता है।

## फारसी लिपिजनित पाठ-विकृति

*सुन सुन बे अमष नादाना*[1] से प्रारंभ होने वाले पद की तीसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है— *यानी जीव पछारो प्रबसे बोझे मार सिर आलिया।*

*बीजक* शब्द 83 में 'प्रबसे' के स्थान पर 'बरबस' पाठ मिलता है जो अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है। *बीजक* में पूरा पंक्ति का पाठ इस प्रकार है:

*बरबस जानि के गाह पछारिन्हि गरा काटि जिवु आपु लिया।* 'ब' का 'प' हो जाना फारसी लिपि ही संभव है। यह विकृति इसी कारण हुई ज्ञात होती है।

## गुजराती प्रभाव जनित पाठ-विकृति

1. *चलो सदगुरु जी के हारा*[2] से प्रारंभ होने वाले पद की आठवीं पंक्ति का अंतिम शब्द 'बकछाइये' मिलता है, जो स्पष्ट ही विकृति है। श. बे. भाग 1 पृ- 1 तथा श.क. पृ. 51 मंगल 8 पर इसका पाठ 'कबसाइये' मिलता है। गुजराती में स का अधिकांश स्थलों पर उच्चारण[3] 'छ' होता है, यथा :

सुधा— छुहा

स्पृहा— छिहा

प्रस्तुत पाठ-विकृति कदाचित इसी प्रवृत्ति के कारण हुई है।

2. हस्तलिखित प्रति 645 गु. में प्राप्त एक पद की प्रथम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है— *सुन सुन बे अमष नादाना।*

बीजक 83 में अमष के स्थान पर 'अहमष' पाठ मिलता है। अहमष–मूर्ख, पाठ में गुजराती प्रभाव से ह का लोप हो गया है।

---

1. ह. प्र. संख्या 645, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद
2. ह. प्र. संख्या 3, आचार्य निवास, अहमदाबाद
3. जूनी गुजराती भाषा, पृष्ठ 86

**अधिक शब्द समावेश के कारण पाठ-विकृति**

1. मन की रे खोज करो रे भाई [1] से प्रारंभ होने वाले पद की पांचवीं पंक्ति के अंतिम अंश का पाठ इस रूप में मिलता है : *लेइने छे भआरे अनंदा*।

इसमें 'लेइने' गुजराती का विशिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ है लेकर।

2. *मन मस्त भया अब कौन बोले* [2] पद की अंतिम पंक्ति के अंतिम अंश का पाठ इस रूप में मिलता है : *ताल तलइया मारे कौन डोले*।

इसमें 'मारे' अतिरिक्त पाठ है। यह पद प्रकाशित रूप में श. बे. भाग 1, पृ 8 एवं श. क. खेमटा 3 पृ. 187 पर मिलता है, किंतु उनमें से किसी में भी मारे शब्द नहीं मिलता। यह गुजराती म्हारे (हिंदी–मेरे) का किंचित परिवर्तित रूप ज्ञात होता है।

**गुजराती पाठ की उपलब्धि**

कुछ गुजराती प्रतियों में विभिन्न पदों के ऐसे पाठ मिलते हैं, जो प्रकाशित संग्रहों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ हैं। यहां पर ऐसे कुछ स्थलों की चर्चा की जा रही है :

1. *परम गुरु सोई दया कर दीन्हा* [3] से प्रारंभ होने वाले पद की छठी और सातवीं पंक्तियों का पाठ इस प्रकार मिलता है :

*बिन जिभ्या जहां अमृत अचवन,*
*जल बिन त्रिषा बुझाई।*
*जहां नहीं तहां सब कुछ देखा,*
*यह सुख कासों कहना।*

उपर्युक्त पंक्तियां विशेष रूप से विचारणीय हैं। इस पाठ के स्थान पर *शब्दावली* (वेलवेडियर प्रेस) भाग 2, पृ. 22, शब्द 12 में :

---

1. ह. प्र. संख्या 1038, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद
2. ह. प्र. संख्या 918, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद
3. ह. प्र. संख्या 1, आचार्य निवास, अहमदाबाद

*बिना अन्न जहां अमृत रस भोजन,*
*जहां हरष तहां पूरन सुख है।*

मिलता है, जो उपर्युक्त पाठ की तुलना में अधिक स्पष्ट नहीं, प्रसंग है अभाव में भी भाव के अनुभव का। इससे पूर्व की पंक्तियों में बिना पैर के चलने, बिना चोंच के ही चुगने और बिना नैनों के ही सब देखने का वर्णन है। अतः उस शृंखला में बिना जिह्वा के अमृत का आचमन करना ही अधिक स्वाभाविक लगता है। इसी प्रकार *जहां नहीं तहां सब कुछ देखा* से कबीर तथा अन्य संतों की उस विचारधारा का स्पष्टीकरण होता है, जिसके अनुसार शून्य अथवा अव्यक्त में समस्त व्यक्त सत्ता का विलीनीकरण माना जाता है। *शब्दावली* के पाठ से इस सूक्ष्म दार्शनिक युक्ति का सौंदर्य ही नष्ट हो जाता है। प्रस्तुत रूप में वह एक सामान्य कथन हो गया है जो स्पष्ट ही परवर्ती हस्तक्षेप के कारण होता है।

2. *पवन पति उनमन रहना खरा* [1] से प्रारंभ होने वाले पद की अंतिम पंक्ति का पाठ इस रूप में मिलता है :

*कर करनि उतरसि पार रोम कत कबीर सार*

उपर्युक्त पंक्ति का पाठ विचारणीय है। इसके स्थान पर *कबीर ग्रंथावली* (हि. परिषद, प्रयाग) पृ. 68, पद संख्या 115 में *कहे कबीर विचार करता लै उतरसि पार* पाठ ग्रहण किया गया है, किंतु इस पाठ से पंक्ति के अर्थ में कुछ अस्पष्टता झलकती है। अर्थ है : "कर्ता (परमात्मा) को साथ लेकर ही इस भवसागर (संसार) से पार उतरता है।" इसकी तुलना में "अपनी करनी द्वारा पार उतर" यह अर्थ स्वाभाविक है और इसमें क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती।

3. *है कोई संत सहज सुख उपजे* [2] से प्रारंभ होने वाले पद की तीसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है :

---

1. ह. प्र. संख्या 1, आचार्य निवास, अहमदाबाद
2. ह. प्र. संख्या 1, आचार्य निवास, अहमदाबाद

*काया करारी माटी करिहुं, गुरु का शब्द गुड़ कीना।*

इस पाठ के स्थान पर *कबीर ग्रंथावली* (हिंदी परिषद, प्रयाग) पद सं.51 में *श्री गुरु ग्रंथ साहब* के आधार पर निम्न रूप में पाठ ग्रहण किया गया है :

*काया कलाली लाहनि में लेउं, गुरु का शब्द गुड़ कीना।*

*कबीर ग्रंथावली* के पाठ के अनुसार उपर्युक्त पंक्ति के प्रथम चरण का अर्थ होगा : काया रूपी कलाली को लाभ के रूप में रखा। किंतु यह भाव को पूर्णतया स्पष्ट करने में असमर्थ है जबकि पहले पाठ से अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि काया को करारी (कलाली-कलाल ली) भट्टी बनाऊंगा और गुरु के उपदेश को गुड़ बनाऊंगा।

# सम्मेलन संग्रहालय में सुरक्षित कबीर साहित्य के हस्तलेख

## *उदयशंकर दुबे 'शील'*

सम्मेलन अपने स्थापनाकाल से ही देश के विभिन्न अंचलों में बिखरी पड़ी प्राचीन ज्ञानराशि का अन्वेषण एवं संग्रहण करता चला आ रहा है। विगत कई वर्षों के अन्वेषण कार्य के फलस्वरूप इस समय सम्मेलन संग्रहालय में संस्कृत, प्राकृत और हिंदी भाषा के दस हजार हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं। ये सुरक्षित हस्तलेख विविध विषयों के हैं। संग्रह कार्य में सम्मेलन को कबीर साहित्य के हस्तलिखित ग्रंथ भी मिले जो इसके हस्तलेख विभाग में सुरक्षित हैं। संप्रति सम्मेलन संग्रहालय में कबीर साहित्य विषयक सत्रह हस्तलेख सुरक्षित हैं।

कबीर साहित्य के अध्येताओं के लिए इन हस्तलिखित प्रतियों का विशेष महत्व है। ये प्रतियां देश के विभिन्न अंचलों में तैयार की गई थीं। अलग-अलग स्थानों पर लिपिबद्ध होने के कारण इन प्रतियों में पाठ भेद बहुत है। कबीर के पदों की संख्या में बढ़ोतरी भी हुई है। यह तो निर्विवाद है कि कबीरदास पढ़े-लिखे नहीं थे। अतः उनकी रचनाओं का संकलन उनके शिष्यों ने किया। समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर लिखी इन प्रतियों के अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि आज से तीन-चार सौ वर्ष पहले कबीर की वाणियों का प्रचार-प्रसार देश के विभिन्न भागों में हो चुका था। इनके अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि कबीर के नाम से उनके पश्चात अन्य लोगों ने भी रचनाएं कीं। सम्मेलन संग्रहालय में संग्रहित

हस्तलेखों का विवरण इस प्रकार है :

*1. कबीर-वाणी*

ग्रंथकार– कबीरदास : ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- गुरप्रताप; लिपिकाल सं. 1855 वि. ; भाषा- हिंदी (पद्य) ; लिपि- नागरी ; आधार- प्राचीन मांडपत्र ; आकार- 12 × 14 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या - 56 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ - 17; अक्षर प्रति पंक्ति - 18 ; परिमाण (अनुष्टुप) छंद संख्या 536 ; दशा-पूर्ण।

विवरण : प्रस्तुत प्रति बूंदी (राजस्थान) से उपलब्ध हुई थी। इसमें संग्रहीत साखियों में कबीरदास के आत्मज्ञान संबंधी उपदेश हैं। पाठ की दृष्टि से प्रति उपयोगी है।

*2. कबीरदासजी की चेतावनी*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल - अज्ञात; लिपिकार- अज्ञात; लिपिकाल- अज्ञात; भाषा- हिंदी (पद्य) ; लिपि-- नागरी ; आधार- मांडपत्र ; आकार- 23×13 सेंमी.; पृष्ठ संख्या- 3 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ - 11 ; अक्षर प्रति पंक्ति- 28; परिमाण (अनु.) - 29 ; दशा--पूर्ण।

विवरण : प्रस्तुत प्रति अपूर्ण है तथा कैथी लिपि में लिखी गई है। इसमें कबीरदास के ज्ञान विषयक पद्य संकलित हैं। संत विचारदर्शन का प्रतिपादन इन छंदों में किया गया है। प्रति अत्यंत जीर्ण है।

*3. कबीरदास जी का परिचय*

ग्रंथकार- अनंतदास ; ग्रंथकाल- सं. 1645 ; लिपिकार- अज्ञात ; लिपिकाल- अज्ञात ; भाषा- हिंदी (पद्य); लिपि- नागरी; आधार-मांडपत्र ; आकार - 16 x 12/1/12 सेंमी.; पृष्ठ संख्या- 50 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 10; अक्षर प्रति पंक्ति – 20 ;परिमाणः (अनु.) - 312 ; दशा- पूर्ण।

विवरण : प्रस्तुत ग्रंथ के कर्ता संत कवि अनंतदास हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् 1645 वि. है। इसमें कबीरदास का जीवनवृत्त एवं उनकी भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। ग्रंथ चौपाई छंद में है और भाषा अवधी है। ग्रंथ की लिपि सुंदर है।

*4. कबीर साहब की चौंतीसी*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल - अज्ञात ; लिपिकार- देवकीनंदन प्रसाद ; लिपि- नागरी ; आधार- प्राचीन मांडपत्र ; आकार - 24.1 × 17 सेंमी; पृष्ठ संख्या- 9 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 16 ; अक्षर प्रति पंक्ति- 21 ; परिमाण (अनु)- 95 ; दशा- पूर्ण।

विवरण : यह प्रति टीकमगढ़ (म. प्र.) से प्राप्त हुई थी। ग्रंथ के नाम के अनुरूप इसमें 34 छंद हैं। बारहखड़ी की शैली में ज्ञान संबंधी विविध विषयों पर उपदेश हैं। जीव, ब्रह्म, ज्ञान आदि पर लिखे गए ये छंद महत्वपूर्ण हैं।

*5. चिंतामणि*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात लिपिकाल - लिपिकार' अज्ञात भाषा - हिंदी (पद्य) ; लिपि- नागरी ; आधार-प्राचीन मांडपत्र ; आकार- 11.2 x 11.5 सेंमी.; पृष्ठ संख्या- 20 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 11 ; अक्षर प्रति पंक्ति- 16 ; परिणाम (अनु.) - 110 ; दशा- पूर्ण।

विवरण : प्रस्तुत प्रति में कबीरदास के भक्ति एवं ज्ञानोपदेश विषयक पद संग्रहीत हैं।

*6. निर्भय ज्ञान*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- कनिकराम; लिपिकाल- अज्ञात ; भाषा - हिंदी (पद्य) ; लिपि- कैथी ; आधार- मांडपत्र ; आकार 20.5×13.5 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या- 158; पंक्ति प्रति पृष्ठ - 13 ; अक्षर प्रति पंक्ति - 11 ; दशा- पूर्ण।

विवरण : निर्भय ज्ञान की यह प्रति ग्राम- कानूनगोपुर, पोस्ट—गोपीगंज, जिला वाराणसी (उ. प्र.) से प्राप्त हुई। इसमें कबीर ने धर्मदास नामक अपने शिष्य को अपना जीवन-चरित बतलाते हुए ज्ञानोपदेश दिया है। कबीर का समस्त जीवन दर्शन इस ग्रंथ में द्रष्टव्य है। ग्रंथ चौपाई, दोहों में लिखा गया है। इसमें लगभग 300 छंद हैं। ग्रंथ में छंदों की संख्या नहीं दी गई है।

*7. रमैनी*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- रामदास ; लिपि

काल -सं. 1822 वि. ; भाषा- हिंदी (पद्य) ; लिपि-नागरी ; आधार- मांडपत्र; आकार - 13.6 x 31.6 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या- 29 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ - 23 ; अक्षर प्रति पंक्ति – 16 ; परिमाण (अनु.) - 248 ; दशा–पूर्ण।

विवरण : प्रस्तुत प्रति पूर्ण है। इसमें ज्ञान-भक्ति एवं योग का वर्णन हुआ है।

*8. सबद*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- नारायणदास; लिपिकाल- 1871 वि. ; भाषा- हिंदी (पद्य) ; लिपि- नागरी ; आधार- माडंपत्र; आकार- 13.6 × 21.6 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या- 154 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ - 23; अक्षर प्रति पंक्ति- 19 ; परिमाण - (अनु.) 1771 ; दशा- अपूर्ण।

विवरण : प्रस्तुत ग्रंथ में ज्ञान, भक्ति, धर्म आदि का वर्णन मिलता है।

*9. साखी*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल - अज्ञात; लिपिकार- अज्ञात; लिपिकाल- अज्ञात;. भाषा- हिंदी (पद्य) ; लिपि- नागरी ; आधार- मांडपत्र ; आकार - 16.5 × 21.5 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या- 37 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 20 ; अक्षर प्रति पंक्ति- 28 ; परिमाण (अनु.) — 417 ; दशा- पूर्ण।

विवरणः प्रस्तुत ग्रंथ में संकलित साखियों में ज्ञान, विरह, भक्ति, माया आदि का वर्णन है।

*10. साखी*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- अज्ञात ; लिपिकाल- अज्ञात ; भाषा- हिंदी (पद्य); लिपि- नागरी ; आधार- प्राचीन मांडपत्र ; आकार- 5.9 × 6.7, पृष्ठ संख्या- 9 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ - 7 ; अक्षर प्रति पंक्ति- 11; परिणाम (अनु) - 14 ; दशा- अपूर्ण।

विवरण : प्रस्तुत प्रति में कबीरदास की साखियों का संकलन है। इनमें रामनाम महिमा का उल्लेख है।

*11. साखी-अंग*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- अज्ञात; लिपिकाल

अज्ञात ; भाषा- हिंदी ; लिपि- नागरी ; आधार- प्राचीन मांडपत्र ; आकार 19 × 26 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या- 13 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 20 ; अक्षर प्रति पंक्ति- 23 ; परिमाण (अनु.) - 184 दशा- अपूर्ण।

विवरण : संत साहित्य में कबीर की साखियों का विशेष महत्व है। इस प्रति में 43 दोहे हैं। कबीर की अन्य साखियों की सी एकसूत्रता इसमें नहीं है। इसकी साखियां प्रामाणिक नहीं हैं।

*12. सुमिरन कौ अंग*

ग्रंथकार - कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- अज्ञात ; लिपिकाल- सं. 1912 वि; भाषा- हिंदी (पद्य) ; लिपि- नागरी ; आधार- मांडपत्र; आकार - 16.16 × 4 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या- 252 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 8 ; अक्षर प्रति पंक्ति - 25; परिमाण (अनु.)- 138 ; दशा- पूर्ण।

विवरण : इस ग्रंथ में कबीर ने राम नाम की महिमा का वर्णन किया है। संत और साधु के सत्संग पर बल दिया गया है। संतों की विचारधारा का निर्वाह करते हुए जीव, जगत तथा संसार की निस्सारता का वर्णन किया गया है। इसमें 124 दोहे हैं।

सम्मेलन संग्रहालय में सुरक्षित कबीर साहित्य की उल्लेखनीय हस्तलिखित प्रतियां *जावन खंड*[1] *उग्र गीता*[2] और संतवाणी के अंतर्गत *कबीर वाणी*[3] हैं। अभी तक इन प्रतियों का विशेष अध्ययन नहीं किया जा सका है। *जावन खंड* और *उग्रगीता* के कर्ता वास्तव में कबीरदास ही हैं या कोई और व्यक्ति जिसका नाम कबीर हो, कबीरदास की शैली और उनसे मिलती-जुलती भाषा में बाद में रचना करता हो— यह एक अलग शोध का विषय है। *संतवाणी* में संग्रहीत कबीरदास का साहित्य अत्यधिक प्रामाणिक है। यहां पर निम्नांकित प्रतियों के विषय में चर्चा की गई है :

---

1. दृष्टव्य– *जावन खंड* की मूल प्रति के पृष्ठ एक की प्रतिच्छाया (फोटो)
2. *उग्रगीता* की मूल प्रति के पृष्ठ एक की प्रतिच्छाया
3. *कबीर वाणी* की मूल प्रति के पृष्ठ 81 की प्रतिच्छाया (इसमें कबीर का प्रसिद्ध पद *दुलहंनी गावहु मंगलचार* लिखित है)

1. *जावन खंड*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- अज्ञात; लिपिकाल- सं. 1805 वि. ; भाषा- हिंदी (पद्य) ; लिपि- नागरी ; आधार– मांडपत्र ; आकार- 21 × 15 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या- 110 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ - 13 ; अक्षर प्रति पंक्ति - 24 ; परिमाण (अनु.) 10/7/25 ; दशा- पूर्ण। देखिए *चित्रावलि*

।। सतनाम ।।

आदि—संत कबीर धनी धर्मदास की दया।। वंस प्रताप की दया लिषत ग्रंथ जावन षंड।। चौपही।। प्रथमहि अभि अंतर गाऊं।। घट भीतर कौ भेद बताऊं।। प्रथम पंषुरी सिर्जनहारा।। दूसर पंषुरी तेज हमारा।। तीसर पंषुरी जगत गुर होई।। चौथी पंषुरी चंदा राजा।। सातमै पंषुरी तहां बहु पवना।। आठमें पंषुरी जावन मरना।। नवें पंषुरी मन प्रगासा।। दषमें पंषुरी काल कौ वाशा।। एकादश पंषुरी जोग के ध्याना।। द्वादस पंषुरी पदा पिर्वाना।। तेरह पंषुरी काल़ कै छैका।। चौदह पंषुरी वस्तु अरूपा।। पंद्रह पंषुरी मन चढि षेले।। सोरह पंषुरी गुप्त होए बोले।। सत्रह पंषुरी माता डोले।। (अठारह पंषुरी हंस अकेला।। उनईस पंषुरी सुर्ति है वेला।।)

मध्य— बहतरी कोठा कहि समुझाऊं।। काया भीतर कथि दिषलाऊं।। काया षोजै मुक्ति तौ होई।। वाया षोजे विनु गए विगोई।। काया भीतर अंध है कूपा।। सिव ससनकादिक काहू न बूझा।। ऊपर षोजि गए उहकाई।। काया भीतर ढूंढ़े नहिं पाई।। वस्तु वाहिर भाषि में दीना।। कोठा बहत्ररि काया मह कीना।। अब तुम साधू करौ विचारा।। काया गढ मह वोजौ मंझारा।। साषी सति सुक्कत में भाषौ भिंनि भिंनि के डार।। कहे कबीर काया मथौ यही ज्ञान है शार।। इति श्री जावनषंड।।

अंत– अनहद ज्ञाण में कथि समझायौ।। अग्नि भीतर कमल लगायो।। जावन षंड अनुप अनुशारा।। सब ज्ञान कें जोगी उजियारा।। जावन षंड जीवन कौं बचाया।। एहि ऊपर ज्ञान दोसर नहि आया।। कितनौं ज्ञान कषो जु अपारा।। जावन षंड है जीव कौ उवारा।। शार शब्द सत्य हम भाषौ।। मुक्ति सजीवनि जीव कह राषौ।। दोहा– निर्विष विष में कथेउ ज्ञान कैं करहु विचार। प्रभु कबीर मुक्ति कैं वहियां जाके लीला अवगति अगिम अपार।। इति श्री जावन षंड।। घट भषन काया विचार।। भिंनि भिंनि के डार।। आदि अंत कर ज्ञान सार।। षौडसमो उपदेस 16 संपूर्ण समापत जो देष लिषा मम दोष न दीयते।। श्लोक– यादृशं पुस्तकं दृष्टवा तादृशं लिखतं भया। यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोशं न दीयते।। 1।।

विवरण : प्रस्तुत प्रति छतरपुर (म.प्र.) से उपलब्ध हुई थी। छतरपुर के मऊ सहानिया नामक गांव में प्राचीन कबीर मठ है जिसमें बहुत-सा कबीर का साहित्य सुरक्षित है। इस मठ में प्राप्त समस्त साहित्य का विवरण नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज विवरणिकाओं में मिलता है। प्रस्तुत प्रति के एक ही जिल्द में कबीर के दो ग्रंथ– *जावन खंड* और *उग्रगीता* संकलित हैं। *उग्रगीता* ग्रंथ का विवरण आगे दिया गया है।

*जावन खंड* दही बिलौने की मथनी को कहा जाता है। इस ग्रंथ में 'काया-विचार' के अंतर्गत काया के संपूर्ण तत्वों को प्रतीकात्मक शैली में वर्णित किया गया है। स्थान-स्थान पर *कहे कबीर* वाक्यांश से तथा प्रारंभ में आए वाक्य *संत कबीर धनीदास की दया, वंस प्रताप की दया लिषतं जावन षंड* से ज्ञात होता है कि ग्रंथकार कबीर ही हैं । लेकिन इस ग्रंथ के रचयिता कबीर एवं प्रसिद्ध संतकवि कबीरदास दोनों एक ही व्यक्ति हैं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। विषय की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि दोनों एक ही हैं, पर यत्र-तत्र *प्रभु कबीर* शब्द आया है जिससे यह मान्यता संदिग्ध हो जाती है। इसका लिपिकाल सं. 1805 वि. कोष्ठक में दिया गया है क्योंकि

इसके अंग में लिपिकाल नहीं दिया गया है अपितु इससे संबद्ध ग्रंथ *सनीचर मठ* में दिए गए लिपिकाल को इसका भी लिपिकाल मान लिया गया है।

बीच-बीच में क्लिष्ट पदों की गद्य में टीका भी है। टीकाकार संभवतः कबीरपंथ का कोई अनुयायी रहा होगा।

2. *उग्रगीता*

ग्रंथकार- कबीरदास ; ग्रंथकाल- अज्ञात; लिपिकार- अज्ञात; लिपिकाल- सं. 1805 ; भाषा- हिंदी ; लिपि- नागरी ; आधार- प्राचीन मांडपत्र; आकार 21 × 15 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या - 123 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 13 ; अक्षर प्रति पंक्ति - 24 ; परिमाण (अनु.) - 2121 ; दशा- अपूर्ण।

विवरण — प्रस्तुत ग्रंथ में धर्मदास और कबीरदास में आध्यात्मिक विषय पर प्रश्नोत्तर है। प्रारंभ में धर्मदास कबीरदास से तत्वज्ञानोपदेश के लिए प्रार्थना करते हैं जिस पर कबीरदास उन्हें अर्जुन गीता सुनाते हैं। कथा के बीच-बीच में धर्मदास किसी बात में संशय होने पर प्रश्न पूछते हैं और कबीरदास उसका उचित समाधान करते हैं। ग्रंथ अंत से खंडित है।

3. *कबीर जी कौ कृत्त*

ग्रंथकार- कबीर; ग्रंथकाल - अज्ञात ; लिपिकार - अज्ञात; लिपिकाल- अज्ञात; भाषा - हिंदी ; लिपि- नागरी ; आधार- मांडपत्र; आकार - 24 × 16.4 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या - 191 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ- 24; अक्षर पंक्ति पंक्ति - 15; परिमाण (अनु.) - 2149 ; दशा- अपूर्ण।

विवरणः प्रस्तुत ग्रंथ में कबीर कृत 59 अंगों के अंतर्गत 900 साखियां, राग गौड़ी में 140 सबद एवं रामकली राग में 31 सबद हैं। उसके बाद ग्रंथ खंडित है। प्रति उपयोगी है।

4. *कबीरदासजी की वाणी*

ग्रंथकार - कबीरदास ; ग्रंथकाल - अज्ञात ; लिपिकाल- सं. 1822 वि; लिपिकार - रामदास ; भाषा- हिंदी ; लिपि - नागरी; आधार- प्राचीन मांडपत्र ; आकार- 13.7 × 21.7 सेंमी. ; पृष्ठ संख्या - 80 ; पंक्ति प्रति पृष्ठ-23 ; अक्षर प्रति पंक्ति - 16 ; परिमाण- (अनु.) 920 ; दशा- पूर्ण।

**मध्य** : *लोका तुम जु कहत हौ।। नंद कों नंदन।। नंद कहौ धौ कोकौ रे।। धरन आकास दोऊ नहि होत।। तब यहु नंद कहा धौ रे।। टेक।। जामैं मरै न संकटि आवे नाव निरंजन जाकौ।। अबिनासी उपंजै नहीं बिनसै।। संत सुजस कहै ताकौ। । लक्ष चौरासी जीव जंत में।। भ्रमत भ्रमत नंद थाकौ। दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ।। भगति करै हरि ताकौ।। 2।। 48।।*

**अंत** : *भाव भक्ति का सेवा मानैं। सतगुर प्रगट कहै नहीं छानै।। अनमें उपजिन मन हराई।। प्रकीरति मिलि मनि मन्य न समाई।। जब लग भाव भगति नहिं करिहौं।। तब लग भव सागर क्यूं तिरिहौं ।। भाव भगति बिसवा बिन।। कटै न संसें सूल।। कहै कबीर हरि भगति बिन।। मुकति नहीं रे मूल।। 4 ।। रमैणी 7।।*[1] *चौपदी रमणी संपूरण भवेत।। रमैणी।। 7 ।। इति श्री कबीर जी का क्रत संपूरण भवेत।। समस्त साषी 810।। सबद समस्त।। 348।। रमैणी., 7।। समस्त बांणी संपूरण भवेत।। श्रीराम जी , सत्य।।*

विवरण : सम्मेलन में सुरक्षित उपर्युक्त सभी प्रतियों में से प्रस्तुत प्रति अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह कबीर साहित्य की प्रामाणिक प्रति है। इस प्रति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ही जिल्द में दादू, कबीर, रैदास, नामदेव, नानक, रज्जब, हरदास जैसे श्रेष्ठ संत कवियों की वाणी का संकलन हुआ है। इसी से इस संपूर्ण संग्रह का नाम *संत वाणी* रखा गया है। प्रति काले और लाल स्याही से लिखी गई है। वाणियों के संग्रहकर्ता रामदास स्वयं कवि हृदय ज्ञात होते हैं।

---

1. देखें *चित्रावलि*

प्रस्तुत ग्रंथ में कुत 59 अंगों के अंतर्गत 810 साखियों एवं राग गौडी तथा राग रामकली में 348 सबद और 7 रमैनी हैं। 59 अंगों का अलग-अलग वर्णन है। ग्रंथ के बीच में जो क्लिष्ट सबद हैं उनकी संक्षिप्त टीका भी प्रस्तुत की गई है इससे अर्थबोध में कठिनाई नहीं होती। उदाहरण स्वरूप यहां मूल प्रति से एक सबद और उसकी टीका प्रस्तुत है :

***राग गौड़ी***

*दुलहंनी गावहु मंगलचार।।*
*हम घरि आये हो राजा राम भरतार।। टेक।।*
*तन रत करि मैं मन रति करिहूं पंच तत बराती।।*
*रामदेव मोरे पाहुन आये मैं जोवन मैं माती।*
*सरीर सरोवर बेदी करिहूं ब्रह्मा वेद उचारै।।*
*रामदेव संगि भावरि लैहूं धनि धनि भाग हमारै।।*
*सुर तेतीसुं कोतिग आये मुनियर सहस अठासी।*
*कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरिष येक अविनासी।।*[1]

**अरथ**

*दुलहिन आत्मा भरतार प्रमेस्वर (ईश्वर) तन मन प्रमेस्वर सौ रत कीया पांच तत तन की तासीर ब्रह्म सौं लागी तातें बराती प्रेम में माती ब्रह्म सौं बनावें सोई वेदी। ब्रह्म बाती उचारै। भावरि भाव सुर देवता तेतीस।। पंच इंद्री पचीस प्रकीरति तीति गुण। मुनिय रस हंस लठासी नौ नाड़ी बहतरि कोठे। सपत (सात) धात। ये अठासी मुनि आत्मा परमात्मा संग कोई ब्याह चले संसार ते नृबासी हुए।*

इस प्रकार कुछ ही पदों का अर्थ दिया गया है। प्रति का पाठ शुद्ध है। प्रकाशित कबीर साहित्य और प्रस्तुत प्रति में संग्रहीत साहित्य में पाठांतर भी मिलता है। इस प्रति को आधार मानकर कबीर साहित्य पर शोध करने में विशेष सुविधा होगी।

---

1. [illegible] लिपावलि

# कबीर के स्मृति-चिन्ह

## *विवेक दास*

कबीर की महिमा और महत्व बताने से पहले उनके उद्‌भव-स्थल– लहरतारा के बारे में चर्चा करना आवश्यक है। काशी के ही अंचल में लहरतारा में उनका उद्‌भव हुआ। लहरतारा कबीरचौरा और काशी मुख्य नगर से सात किमी. की दूरी पर स्थित है। कहा जाता है कि लहरतारा में कभी लहरोंवाला एक विशाल तालाब था, जिसमें दूर-दूर तक कमल के फूल लिखे रहते थे। झील के आकार वाले इस तालाब का स्रोत किसी जमाने में गंगा से लगा हुआ था। वस्तुतः यह तालाब गंगा के छाड़न के तौर पर था। गंगा में जब बाढ़ आती थी, तो उसकी लहरें यहां तक फैल जाती थीं। बाद में धीरे-धीरे इस तालाब को छोड़कर गंगा दूर चली गई। इसलिए इस तालाब का नाम लहरतारा पड़ गया।

ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा की अपराह्न की बेला थी। इसी दिन नीरू अपनी पत्नी नीमा का द्विरागमन कराकर लहरतारा के पूर्वी तट से होकर जा रहे थे। मडुआडीह ग्राम वाराणसी नगर के दक्षिणी संभाग में पड़ता है। मडुआडीह में ही नीरू की ससुराल थी। इस कस्बे में आज भी दलितों की संख्या बहुत अधिक है। उस समय हाल-हाल में ही इन जातियों ने हिंदू धर्म को छोडकर मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया था। नीरू का घर वर्तमान कबीरचौरा स्थित नहरपुरा में था जो आज नीरू टीला के नाम से विख्यात है। यहीं आने के लिए नीरू और नीमा दंपति पालकी पर सवार होकर जा रहा था। रास्ते में पड़े लहरतारा तालाब के किनारे एक टीला-सा था। इस

टीले के आस-पास सघन वृक्षों की छाया थी। बंद पालकी में गर्मी से परेशान नीमा के मन में वृक्षों की सघन छाया के तले तालाब का सौदर्य देखने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। नीरू ने उनका अनुरोध स्वीकार किया और दोनों इस टीले पर चले गए। गर्मी का महीना था। पति-पत्नी दोनों लहरों से छनकर आती हुई शीतल कमल-गंधित वायु का आनंद लेने लगे। विपुल जल-राशि की लहर, ठंडी हवा और दूर-दूर तक फैल कमल के विस्तार ने उन्हें अभिभूत कर दिया।

इसी बीच नीमा को एक नवजात शिशु की आवाज सुनाई पड़ी। उन्होंने देखा कि कमल-वन के बीच में एक नन्हा-सा बच्चा हाथ-पांव फेंक रहा है। सहज नारी-हृदय नीमा करुणा से द्रवित होकर जल में कमल-वन तक पहुंच गई और उस बच्चे को उठा लिया। इस बीच नीरू मंद-मंद हवा में झपकी लेने लगे थे। जब नीरू की तंद्रा टूटी, तो दोनों के सामने एक कठिन सवाल खड़ा था। नीरू अभी-अभी गौना कराकर नवविवाहिता सहित पहली बार घर जा रहे थे। समाज का भय तो था ही लेकिन जल के कमल-वन से टीले पर आते-आते नीमा के हृदय में मातृत्व का भाव जाग उठा था। वह रोने लगी, शिशु का सौंदर्य देखकर नीमा भाव-विभोर हो गई थी। बच्चे की अलौकिकता देखकर उसने समाज की सारी लोक-लाज सहने के लिए कमर कस ली। नीमा की जिद को नीरू ने भी स्वीकार किया और वे दोनों सहमत होकर बच्चे को साथ घर ले आए। यही शिशु कबीर नाम से बाद में दुनिया का पथ-प्रदर्शक बना।

लहरतारा तालाब के किनारे जिस ऊंचे स्थान पर शिशु-शरीर पर नीरू और नीमा की दृष्टि पड़ी, वह स्थान बाद में तीर्थ बन गया। इसी स्थान पर कालांतर में एक मंदिर बना। यह मंदिर काफी प्राचीन है और उसकी बनावट प्रायः हिंदू-मुस्लिम मंदिर-मस्जिद जैसी है। लेकिन इस मंदिर में कोई मूर्ति नहीं स्थापित की गई है। इससे स्पष्ट है कि कबीर के सिद्धांतों के अनुकूल इस मंदिर को मूर्ति-पूजा के केंद्र के रूप में नहीं विकसित किया गया। इस मंदिर से लगा हुआ तालाब तो अब भी एक गहरा जल-स्थान है,

लेकिन उसे चारों ओर से पाटे जाने तथा इमारतें आदि बनावाए जाने के कारण उसका अस्तित्व अब प्रायः समाप्त हो रहा है। इस तालाब के एक हिस्से को उत्तर प्रदेश सरकार ने बहुत पहले ही कबीर के स्मरण तीर्थ के रूप में विकसित करने के लिए अधिग्रहीत कर लिया था। सरकार की योजना जब तक पूरी नहीं हो जाती, तब तक इस स्मरण-तीर्थ का महत्व लहरतारा मंदिर के कारण ही है।

लहरतारा के विकास और उसे आकर्षक पर्यटन-स्थल बनाने के लिए उत्तर प्रदेश शासन की कई महत्वाकांक्षी योजनाएं आती-जाती रहीं। शासन की एक योजना के तहत कबीर स्मारक भवन बनाने के बजाय कबीर सभा भवन का निर्माण हो गया। इस सभा भवन की वहां अभी कोई आवश्यकता नहीं थी। इस सभा भवन के निर्माण से लहरतारा स्थित कबीर-प्राकट्य परिक्षेत्र का स्वरूप भी बिगड़ गया, क्योंकि सभा भवन को जहां बना दिया गया है, वहां उसको बनाए जाने से इस तीर्थ स्थल पर अब भविष्य में भी कुछ सार्थक निर्माण कर सकने में अड़चन आने की संभावना पैदा हो आई है। तालाब का प्रयोग शहर के गंदे नालों के कुंड के तौर पर होने लगा है। मछली पालने-मारने का कारोबार-केंद्र बने इस तालाब के चारों तरफ गंदगी का इतना अंबार है कि दर्शक या पर्यटक वहां एक पल भी नहीं रुक सकते। तालाब के किनारे-किनारे लोग कब्जा करके अवैध भवन बना रहे हैं। मंदिर और तालाब दोनों कबीर साहब की अभिन्न स्मृतियां हैं। कबीर स्मारक और तालाब विकसित करने के लिए संभवतः सरकार कोई प्रयत्न करे। जब-जब कबीर की महत्ता स्वीकारी जाएगी, तब-तब उनसे जुड़े स्थलों की भी महिमा बढ़ेगी।

लहरतारा मूल-स्थल का संबंध कबीरचौरा मठ से है। मगर कबीरचौरा मठ के महंतों ने भी इस स्थल को विकसित करने के लिए कभी कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया। कबीर के नाम पर अन्य मठ और मंदिर बनते रहे हैं, लेकिन उनकी प्राकट्य-स्थली लहरतारा की उपेक्षा कबीरपंथियों के लिए भी कम शर्म की बात नहीं। कबीरचौरा वाले चाहें तो सरकारी मदद के बिना भी

कबीर की प्राकट्य-स्थली को रमणीक और सम्मान-योग्य बना सकते हैं। लेकिन वे अब केवल सरकारी अनुदानों पर ही आश्रित हो गए हैं। वे राह देख रहे हैं कि शासन अनुदान दे, तो कुछ करें।

कबीर स्वयं शासन-सत्ता के विरोधी थे। फिर कबीर के स्थलों को शासन के भरोसे विकसित करने का लक्ष्य कबीरपंथियों को शोभा नहीं देता। जनता के छोटे-छोटे सहयोग से यदि कबीर के इन स्थलों का निर्माण किया जाता तो वह कबीर को सच्ची श्रद्धांजलि होती। लहरतारा को धर्मदासीय शाखा के एक वर्ग द्वारा क्रय कर लिया गया है और उसमें तालाब के प्राकृतिक स्वरूप को विकसित करने के स्थान पर मंदिर जैसा एक भव्य स्मारक बनाया गया है। कबीर प्राकृतिक सौंदर्य के पक्षधर थे और अब उनके नाम पर ही प्राकृतिक स्वरूप को नष्ट करके उनके प्राकट्य के तालाब का स्वरूप बिगाड़ कर उसमें ईंट-पत्थर जमा किया जा रहा है।

कबीरचौरा मठ कबीर की मूलगादी के नाम से विख्यात है। कबीरचौरा उनकी साधना-पीठ और कर्मभूमि रही है। यहां समाधि में मगहर से कबीर साहब के शरीर-पुष्प प्रतिष्ठित किए गए हैं। समाधि-स्थल प्रतिष्ठित करने का कार्य राजा वीरदेव सिंह जूदेव बघेल ने किया था। जिस स्थान पर समाधि-मंदिर प्रतिष्ठित है, वह स्थान कबीर की साधना और भजन-चिंतन का स्थान था। कबीर के सत्यलोक-गमन के बाद इसी स्थान पर राजा वीरदेव सिंह ने एक मंदिर बनवाया, जिसका शिलालेख कबीरचौरा मठ में मौजूद है। शिलालेख में उल्लिखित विवरण इस प्रकार है— *इस मंदिर को महाराजा वीरदेव सिंह ने संवत् 1578 में आचार्य सुरति गोपाल की आज्ञानुसार बनवाया जिसकी लागत 3887 रुपये 6 आना 3 पैसे है।* पुनः इस मंदिर को मठ के इक्कीसवें आचार्य रामविलास साहब ने फीजी के भक्तों व अनुयायियों की मदद से सन् 1933 में भव्य रूप में बनवाया। यह मंदिर 1600 वर्गफीट (40x40) में बलुआ पत्थरों से बना हुआ है और उसकी विशाल चौकी सफेद और काले संगमरमर से सुंदरतापूर्वक निर्मित है। इसके घंटाघर और बड़े शिलाखंडों से बनी छत को वास्तुकला का अद्भुत नमूना माना जाता है।

मठ का मुख्य परिसर आज भी मोहल्ले के बाकी सभी स्थानों से काफी ऊंचा है और कई सौ वर्षों के निरंतर भराव के बावजूद इस स्थान की ऊंचाई पूरे मुहल्ले की अपेक्षा अब भी करीब पांच फुट अधिक है। अतः निश्चित है कि यह चबूतरा काफी पुराना है, क्योंकि इतना ऊंचा स्थान नगर में सहसा तो निर्मित नहीं किया जा सकता। इस चबूतरे की महत्ता के कारण ही बहुत पुराने समय से इस मुहल्ले का नाम ही कबीरचौरा पड़ गया है। स्पष्ट है कि यह चबूतरा बहुत पहले से काशी का अत्यंत पूजित और सम्मानित स्थान रहा है। चौर या चौरा शब्द चबूतरा का पर्याय तो होता है ही, समाधि का सूचक भी होता है। भोजपुर या वाराणसी के आस-पास के जनपदों में प्रायः प्रत्येक गांव में अनेक देवी-देवताओं के चौरे पाए जाते हैं। इसी तरह अनेक ग्राम-देवताओं को भी चउर कहने का प्रचलन है। अतः कबीरचौरा नाम में कबीर की समाधि तथा उनके उपदेश-स्थान के चबूतरे का अभिप्राय भी संलग्न है। चबूतरे पर बैठकर कबीर उपदेश दिया करते थे। बाद में यहां एक कुटी बनी। यही स्थल अब बीजक मंदिर के रूप में विकसित है। इसे भी कबीरचौरा मठ के इक्कीसवें आचार्य रामविलास ने विकसित कराया। इसी स्थान पर बीजक का उपदेश मूल रूप में दिया गया था और बीजक अर्थात ज्ञान-रहस्य-संबंधी सारी साधनाएं भी संपन्न हुआ करती थीं। बीजक मंदिर के पिछले भाग में कबीर का स्मृति-कक्ष है। यह स्मृति-कक्ष वस्तुतः धर्म स्थान है, जिसमें कबीर की वृद्धावस्था का एक प्रामाणिक चित्र परंपरा-क्रम में निर्मित होता हुआ आज भी विद्यमान है। इस स्मृति-कक्ष में कबीर का जर्जर खड़ाऊं भी है, जिसकी लंबाई 22.5 सेंमी., चौड़ाई 7.5 सेंमी. और ऊंचाई 3 सेंमी. समतल में है। जल पड़ते-पड़ते यह खड़ाऊं अब इतना जीर्ण-शीर्ण हो चुका है कि इसे अब संरक्षा की दृष्टि से एक छोटी-सी चौकी पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। सन 1934 में महात्मा गांधी कबीरचौरा आए थे। उन्होंने इस खड़ाऊं की जीर्ण-शीर्ण अवस्था पर घोर चिंता व्यक्त की थी और तभी से इस खड़ाऊं को शीशे के एक बक्से में बंद रखा गया है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कबीर की यह खड़ाऊं महत्वपूर्ण तथा

प्रसिद्ध है। वर्ष में हजारों लोग इसका दर्शन-पूजन करते हैं।

इस खड़ाऊं के बगल में एक काष्ठ-पात्र रखा हुआ है, जिसका उपयोग कबीर किया करते थे। यह काष्ठ-पात्र इतना पुराना है कि इसकी लकड़ी के काल के संबंध में निर्णय करना कठिन है फिर भी इसकी बनावट को देखकर 500 वर्ष पुराने उस काष्ठ-शिल्प की कल्पना की जा सकती है, जो दुर्लभ है। काष्ठ-पात्र हांडी की शक्ल में बना हुआ है। शायद इसी तरह की काष्ठ की हांडियां उन दिनों बना करती थीं, जिसे लक्ष्य करके *हांडी काठ की चढ़े न दूजी बार* जैसा मुहावरा बन गया था। अब इस काष्ठ की हांडी को मठ की ओर से सुरक्षित रखा गया है। निश्चित ही लकड़ी का यह पात्र पुरातात्विक महत्व का है। स्मृति-कक्ष में एक त्रिशूल भी रखा हुआ है, जिसकी लंबाई 270 सेंमी. है। त्रिशूल के फलकों की लंबाई 54.9 सेंमी. है। यह त्रिशूल कबीर को उनके समकालीन गोरख नामधारी किसी गोरखपंथी योगी से विजय के रूप में प्राप्त हुआ था। कबीर ने गोरखपंथी योगी को यौगिक चमत्कारों और शास्त्र-चर्चा दोनों स्तरों पर पराजित किया। यह त्रिशूल भी पुरातात्विक महत्व का है। स्मृति-कक्ष में काष्ठ की विशाल माला भी है, जिसे संभवतः कबीर के गुरु स्वामी रामानंदजी ने उन्हें दी थी। यह माला काष्ठ की है। इसमें 1000 से अधिक मणिकाएं गुंथी हुई हैं।

स्मृति-कक्ष के ऊपरी भाग में बीजक मंदिर बना हुआ है। इस मंदिर की संरचना मंदिर-मस्जिद के मिले-जुले रूप की है। बीजक मंदिर मठ-परिसर का प्राण-क्षेत्र है। यह मंदिर 51×41 फीट अर्थात लगभग 2150 वर्ग फुट के ऊंचे चबूतरे पर बना हुआ है। यही चबूतरा मूल कबीरचौरा है। यही आचार्य-पीठ भी है। इसी पर महंत की गद्दी या आसन है जिसे मूलगादी कहते हैं। बीजक मंदिर में प्रवेश करते समय चबूतरे के बाएं भाग में महंत का साधना-कक्ष और आवास है और इसी तरह कक्ष के बाहर महंत की गादी पड़ी रहती है। महंत इसी गादी पर बैठते हैं।

संभवतः कबीर की निर्गुण साधना को ध्यान में रखकर मंदिर के ऊर्ध्वभाग को मंदिर-मस्जिद की सारी औपचारिकताओं से मुक्त रखा गया है।

बीजक मंदिर एक प्रकार की रहस्य-भूमि है। वस्तुतः बीजक का अर्थ ही *गुप्त धन की सूची* अथवा परमार्थ रहस्य-विद्या हुआ करती है। बीजक ज्ञान आत्मधन का भी प्रतीक है। बीजक का ज्ञान आत्मतत्त्व से भरा पड़ा है। *बीजक* कबीरपंथियों का धार्मिक ग्रंथ और पूज्य है। बीजक मंदिर में *बीजक* की एक प्राचीन हस्तलिपि भी रखी हुई है। इन स्मृतियों को जानने, देखने और दर्शन-पूजन के लिए भारी संख्या में पर्यटक, यात्री और भक्तजन आते रहते हैं।

कबीर की महिमा ज्यों-त्यों बढ़ी कबीर के प्रति पंडितों और मुल्लाओं का आक्रोश भी बढ़ता गया। काशी के पंडित निरंतर कबीर का विरोध करते रहते थे। उनके सारे षड्यंत्र जब विफल हो गए, तब एक बार पंडितों ने कबीर के नाम पर उनकी कुटिया पर भंडारे का आयोजन रचा। चार ब्राह्मण को सिर मुंडवाकर कबीरपंथियों का वेश बनाकर वसंत पंचमी के दिन के लिए झूठा निमंत्रण भिजवा दिया गया कि इस दिन कबीर साहब ने विशाल महोत्सव आहूत किया है। निर्धारित दिन को कबीर अपनी कुटिया के सामने अचानक विशाल भीड़ देखकर घबरा गए और कुटिया छोड़कर कहीं चले गए। कहते हैं कि ईश्वर ने उनकी लाज रखी और कबीर रूप धारण करके सभी आमंत्रितों का स्वागत किया। इस आतिथ्य से वे लोग धन्य-धन्य हो गए। सब लोग कबीर की प्रशंसा करते हुए जा रहे थे। कहीं एकांत में बैठे कबीर राम-भजन में मस्त थे। भंडारे से लौटे एक संत ने उनसे कहा कि यहां क्या कर रहे हो ? कबीर के घर पर जाओ। वहां पर विशाल भंडारा चल रहा है। कबीर ने सोचा कि निश्चित रूप से ईश्वर ने ही मेरी इज्जत रखी है। तब उन्होंने यह दोहा कहा :

*ना कछु किया न कर सका, न करने जोग सरीर।*
*जो कछु किया तो हरि किया, भया कबीर-कबीर।*

आज भी इसी स्थान का यहां भंडारे के रूप में इस्तेमाल होता है। कबीरपंथी भक्त और साधु तथा सिख संप्रदाय के लोग इस स्थान को ईश्वर की कृपा-भूमि के रूप में मानते हैं।

मठ-परिसर से लगा हुआ तथा मठ की सीमा में ही एक दूसरा परिसर है, जो नीरू टीला के नाम से विख्यात है। यह टीला चबूतरे से भी अधिक ऊंचा है। इस टीले पर नीरू-नीमा की समाधियां हैं जिन्हें संगमरमर से विन्यस्त कर दिया गया है। इस टीले पर एक धर्मशाला भी बनी हुई है। यहीं नीरू-नीमा का निवासस्थान था। यहीं पर कबीर का लालन-पालन हुआ था। संन्यास से पूर्व अपनी जीविका के लिए कबीर इसी स्थान पर सूत काता करते थे। उनके करघे को आचार्य रामविलास ने पटना के हरमंदिर को समर्पित कर दिया है। यह स्थान भी पुरातात्विक महत्व का है जिसमें मंदिर से जुड़े हुए दर्शनार्थी आते-जाते हैं। नीरू-टीला के शेष परिसर को दर्शनार्थी और पर्यटकों के लिए फूल-फुलवाड़ियों और पेड़-पौधों से शांति के अनुरूप तथा सुरुचिपूर्वक सजा कर रखा गया है।

भंडारगृह के सामने ही कबीरचौरा मठ के चार महत्त्वपूर्ण आचार्यों की समाधियां हैं। पहले यहां के आचार्य अपनी जमात लेकर छह महीने तक जनता को चेताने के मकसद से कबीरवाणी के प्रचार-प्रसार के लिए घूमते रहते थे। कई आचार्यों का निधन तो यात्रा के दौरान ही हो गया था। उनकी समाधियां वहीं दे दी जाती थी। असम से लेकर बिहार और उड़ीसा से लेकर गुजरात तक में यहां के आचार्यों की समाधियां हैं। कई आचार्यों की समाधियां मगहर में भी हैं। एक आचार्य अमृत को नीरू-टीले पर समाधि दी गई है। उसके बाद से यह व्यवस्था कायम कर दी गई है कि परिसर में अब कोई भी समाधि नहीं दी जाएगी। इसका शिलापट्ट लगा दिया गया है कि अब आचार्यों की समाधि शिवपुरी बगीचे में दी जाएगी या उनके पार्थिव शरीर गंगा में प्रवाहित कर दिए जाएं। यह सूचना 22वें आचार्य अमृत साहब ने ही लिखवाई थी, फिर भी उनकी समाधि परिसर के दूसरे भाग में दी गई है। परिसर में समाधियों पर रोक लगाना आवश्यक भी था, नहीं तो यह परिसर कब्रिस्तान में बदल जाता।

कबीरचौरा, लहरतारा, नीरू टीला, महगर के अतिरिक्त भी कबीर से संबंधित अनेक ऐतिहासिक और पुरातात्विक स्थल हैं। पुरी में भी कबीरचौरा

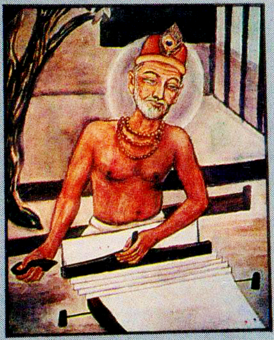
है। यहां पर कबीरपंथ के अनेक गुरुओं की समाधियां हैं। कबीर साहब का सीधा संबंध पुरी से है। कहा जाता है कि पुरी में जगन्नाथ का मंदिर बन रहा था, तो समुद्र का तूफान मंदिर को बहा कर ले जाता था। संयोग से उस समय कबीर पुरी में ही थे। लोगों ने कबीर से निवेदन किया कि आप सिद्ध संत हैं। आपका प्रताप हो, तो तूफान रुक सकता है और जगन्नाथ बाबा का मंदिर बन सकता है। कबीर साहब ने उन लोगों का निवेदन स्वीकार किया और समुद्र किनारे जाकर एक कुबड़ी गाड़ दी। समुद्र फिर वहां से आगे नहीं बढ़ा और जगन्नाथ मंदिर का निर्माण हो गया। समुद्र के किनारे पर गड़ी कुबड़ी के स्थान पर ही कबीरचौरा मठ बना हुआ है, जो अब जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। यहां चारों ओर से लोगों ने अवैध कब्जा जमा रखा है। चारों तरफ से मिट्टी भर-भर कर टीला बन गया है और कुबड़ी स्थल काफी गहरे में चला गया है। यह स्थल भी पुरातात्विक और ऐतिहासिक है। लेकिन कभी किसी ने इस स्थान पर कोई ध्यान नहीं दिया, इसलिए यह स्थान उपेक्षा का शिकार है।

कबीरचौरा मठ कबीर की कर्मभूमि में प्रतिष्ठित है, जहां निरंतर तपस्वी साधु निवास करते हैं और निर्धारित अनुशासन के अंतर्गत अध्ययन-चिंतन करते हैं। साधुजनों को मठ की ओर से भोजन तथा अन्य सुविधाएं दी जाती हैं। सभी साधुओं के लिए *बीजक* का पाठ करना अनिवार्य है। मंदिर के एक भाग में सद्गुरु कबीर पुस्तकालय है। पुस्तकालय में कबीर-साहित्य और संत-साहित्य का विपुल संग्रह है। इसमें *बीजक* के प्राचीन लेख और अन्य लेखों की हस्तलिखित अनुकृतियां भी एकत्र हैं। यहां *बीजक* के लेखों के अतिरिक्त कबीर-साहित्य और कबीरपंथी-साहित्य की बहुत-सी सामग्री भी संग्रहीत है। मठ की ओर से कबीर वाणी प्रकाशन केंद्र की स्थापना की गई है। केंद्र ने कबीर से संबंधित अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

कबीरचौरा धर्म-क्षेत्र भी है और कुरुक्षेत्र भी। आदमी-आदमी को छोटा करके देखनेवाली और अलग करके बांटनेवाली धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के खिलाफ सही सार्थक लड़ाई की शुरुआत यहीं से हुई

थी। कुछ ही दिनों में सबकी खैर चाहनेवाला एक छोटा-सा चबूतरा बढ़ते-बढ़ते कबीरचौरा बन गया था। अब जहां कहीं भी ईमानदार आवाज उठती है; वह जगह कबीरचौरा होती है। कबीरचौरा स्थान भी है, चिंतन भी है, आह्वान और वैचारिक युद्ध-संकल्प भी है। यह हमारा सौभाग्य है कि पिछले प्रायः 600 वर्षों से मुनष्यता की ओर जानेवाली यात्रा की विरासत हमारे पास है। जब जब देश भटका, इस कबीरचौरा में हलचल हुई। यहां के साधु और संत जागे और देश-देशांतर में फैल गए। औरंगजेब के हाथ इसी कबीरचौरा के पास आकर हथौड़ा छोड़कर इबादत के हाथ में बदल गए थे। कबीरचौरा का संदेश उसके लिए साधुत्व का संदेश बन गया। हिंदू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित अकबर ने दीने-इलाही के रूप में कबीरचौरा के सपनों को ही साकार बनाने की कोशिश की थी। ऐसा कहा जाता है कि अकबर के मानसिक पिता कबीर ही थे।

जब-जब पुरोहित व्यवस्था प्रबल होती है, इस आश्रम की महिमा पर असर पड़ता है.... जब-जब क्रांति और मानवता की विस्तारक शक्तियां सक्रिय होती हैं, तब-तब कबीरचौरा जाग उठता है। 1857 में फिरंगियों के खिलाफ संन्यासियों का आनंद मठ विद्रोह उभरा था। उसी समय कबीरचौरा मठ के साधुओं ने कबीरदल का गठन करके आजादी की लड़ाई में हिस्सा लिया। आजादी के दीवानों की शरणस्थली भी कबीरचौरा ही रही है। महात्मा गांधी, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, रवींद्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद, शेख अब्दुल्ला, किदवई, डा. संपूर्णानंद आदि भी कबीरचौरा मठ की गतिविधियों से जुड़े थे। कबीरचौरा मोक्ष के लिए तीर्थ है, तो मानवता और क्रांति के लिए महातीर्थ।



भारतीय चिंतन परंपरा में कबीर एक प्रकाश स्तंभ के समान हैं। उनका आविर्भाव उत्तर भारत के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना थी। उन्होंने समाज की मूल चिंतनधारा को नई दिशा दी। प्रचलित रूढ़िवाद और कर्मकांड को न केवल त्यागा बल्कि उस पर तीखे प्रहार किए, नए सिरे से चिंतन किया, अनुभव पर आधारित स्थापनाएं दीं।

कबीर साहित्य और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वानों के बाईस लेखों का यह संकलन उनमें रुचि रखने वालों के लिए कबीर के विभिन्न आयामों को समझने में मददगार साबित होगा।

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

ISBN : 81-230-0787-6
मूल्य : 75.00 रुपये